॥ ॐ ॥

हिंगोना (घरणगाव) निवासी स्व. श्रीमान् मोतीलालजी पगारिया के सुपुत्र श्री. अमोलकचंदजी की ओर से सादर भेंट।

— दिनांक १६ अक्टुम्बर १९५४

श्री अमोल

जैन तत्त्वज्ञान-दिग्दर्शन

[नय-प्रमाण आदि विवेचन]

: लेखक :
शास्त्रोद्धारक श्रीमज्जैनाचार्य धर्मदिवाकर
पूज्यश्री अमोलकऋषिजी महाराज

: संयोजक :
पण्डित मुनि कल्याणऋषिजी महाराज

: संशोधक और सपादक :
रतनलाल संघवी

प्रकाशक:—

मंत्रीश्री

श्री अमोल जैन ज्ञानालय,

धूलिया (पू० खानदेश)

प्रथमावृत्ति १००० | मूल्य १) रु० | वी० सं० २४७९ वि० सं० २०१०

श्री जालमसिंह मेड़तवाल के प्रबन्ध से
श्री गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस,
ब्यावर में मुद्रित

प्रयोजन
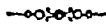
आदान और प्रदान दोनों परस्पर विरोधी पद हैं। अत्यन्त भिन्न हैं। एक पूर्व है तो दूसरा पश्चिम है। इसी तरह जन्म-मरण, सुख-दुख, श्रेयस्-प्रेयस्, गरज-फरज, उदय-अस्त, यश-अपयश, शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और धर्म-अधर्म हैं। सभी परस्पर विरोधी हैं। फिर भी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इनका यही सम्बन्ध संसार है। द्वन्द्व-युद्ध है।

फल और बीज का जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध परस्पर विरोधी इन दो तत्त्वों में है। हम फल खाना चाहते हैं। पर बीज बोना नहीं चाहते। फल खाने की गरज ने बीज बोने की फरज को भुला दिया है। फरज का भूलाना ही दुखों का फूट पड़ना है।

गरज कहती है-ले, लेना तेरा अधिकार है। फरज कहती है दे, देना तेरा कर्त्तव्य है। इस द्वन्द्व में फरज तर्क की कसौटी पर खरी निखरेगी। फल सिमित है। फल खाते रहे तो फल का खजाना एक दिन खाली मिलेगा। बीज बोते रहना ही फल की प्रचूरता है। कर्त्तव्य रूपी बीज बोना अपना काम है। कर्त्तव्य रूपी बीज बोते रहे तो अधिकार रूपी फल स्वतः आपके चरण चूमन करेगा।

अधिकार की भीख ने भिखारी की दीन-हीन दशा कर दी है। अगर अधिकार की याचना न कर कर्त्तव्य को समझें तो संसार का यह-द्वन्द्व युद्ध शान्ति में विलीन हो सकता है। समय-समय पर वस्तु स्थिति को पहिचानने के साधन महापुरुष निर्णय करते रहते हैं। लेकिन हम उन अनेक पहलू का विरोध करके किसी एक ही

पहलू से वस्तु की पूर्णता कायम करते हैं। मापदण्ड की इस बूरी टेव ने कर्त्तव्य पथ से हमको कोसों दूर फैंक दिया है। आगम का कथन है:-

'जो एगं जाणई से सव्वं जाणई,
जे एगं न जाणई से सव्वं पि न जाणई'।

वस्तु अनेक गुणों का समूह है। किसी एक ही गुण को सम्पूर्ण वस्तु मानना भ्रमणा है। वस्तु के किसी एक गुण को प्रधानता दे कर शेष अनंत गुणों का अविरोध कथन करना ही उस गुण की प्रधानता है। वस्तु की प्रधानता तो सकल गुणों में है।

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री अमोलक ऋषीश्वर अद्वितीय प्रतिभाशाली पुरुष थे। अपने शिष्य राय ऋषिजी म० सा० को कर्त्तव्य का बोध देने के लिए आपने शास्त्रों का मंथन किया। नवनीत के सदृश २५ द्वारों की रचना की। एक ही वस्तु को पच्चीस प्रकार से समझा कर गुरु ने गुरुत्व निभाया और शिष्य ने शिष्य का कर्त्तव्य पहचाना—

पूज्य श्री द्वारा रचित, २५ द्वार सूत्र व संकेत रूप संक्षिप्त थे। हस्तलिखित टब्बाकार थे। महापुरुषों के महाशयों को समझ लेना सब के लिए समान नहीं हो सकता। लेकिन सब कोई समझे यह अति आवश्यक विषय है। समझ का दूषित साधन संसार के समस्त वातावरण को दूषित कर रहा है। वस्तु स्थिति की समझ कराने में ये २५ द्वार उपयुक्त हैं। इन द्वारों की सरल भाषा और सरल व्याख्या कर के समस्त द्वारों को जैन तत्त्वज्ञान दिग्दर्शन के साँचे में ढाला है। इस की योजना करने कराने में विघ्नों की भरमार रही है। फिर भी पाठक गण इसको पढ कर वस्तु के प्रत्येक पहलू को समझें, वस्तु स्थिति का बोध प्राप्त कर कर्त्तव्य पालन कर सकें तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूंगा।

—कल्याण ऋषि

आभार-दर्शन

—

पाठको !

अपनी जीवन-यात्रा अनंत काल से चालू है। दुखों की परम्परा भी छाया की तरह साथ देती रही है। अभी तक भव-भ्रमण का अन्त नहीं आया। इसका प्रधान कारण है अपनी दिग्मूढ़ता। सच्चा पथ प्रदर्शक मिलता या पाने की कोशिश की होती तो हमारी संसार-यात्रा का किनारा भी आ जाता। अमोलक जैन ज्ञानालय सच्चा पथ प्रदर्शन कराने में सतत प्रयत्नशील है। पूज्य श्री अमोलक ऋषीश्वर के अप्रकट ग्रन्थों को प्रकट करके समय समय पर आपकी ज्ञान-ज्योति को बढ़ा रहा है। पं० मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म०सा०, वयोवृद्ध दीर्घदर्शी मुनि श्री मुल्तान ऋषिजी महाराज सा० व श्री प्रवर्तिनीजी श्री सायरकुंवरजी महासतीजी की सत्प्रेरणा और असीम कृपा से १७ वाँ पुष्प यह संस्था आपको समर्पण कर चुकी है। पूज्य श्री द्वारा रचित २५ द्वारों को जैन तत्त्वज्ञान दिग्दर्शक के रूप में १८वें पुष्प की अभिवृद्धि कर आपके सन्मुख उपस्थित करने में विशेष हर्ष होता है।

मिथ्यात्व ही संसार-यात्रावर्धक है। वस्तु स्थिति की विपरीत प्रतीति मिथ्यात्व है। यथावत् वस्तु स्थिति का बोध ही सम्यग् ज्ञान है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक वस्तु को जानने के लिए २५ भिन्न २ शैलियों का वर्णन है। भिन्न २ शैलियों द्वारा जाना हुआ सच्चा

ज्ञान आपको जीवन-यात्रा का मंगलमय किनारा लावेगा। आपको विश्रान्ति देगा। संस्था द्वारा प्रकाशित १७ पुष्प आपने अपना कर हमारा उत्साह बढ़ाया है उसी तरह यह १८ वां पुष्प भी आपके हृदय का हार बना तो हमारा उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा।

इस ग्रन्थ को इस रूप में उपस्थित करना सहज कार्य नहीं है। साधु-चर्या को पालना और संघ का सुधार करना। इन महान् कार्य को करते हुए भी पंडित मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महाराज सा० संस्था को प्रगतिशील बनाने में सतत प्रयत्न करते रहते हैं। आप ही के अविरत परिश्रम का यह फल है कि संस्था का १८वां पुष्प 'जैन तत्वज्ञान दिग्दर्शन' आज आपके हाथ में पहुँच सका है।

श्री वर्द्धमान श्रमण संघ के प्रधान मंत्री पंडित-रत्न मुनि श्री आनन्द ऋषिजी महाराज सा० का प्रत्येक पल अनमोल है। अखिल भारत वर्ष के श्रमण संघ का शासनचक्र आपके हाथ में है। आपको अन्य कार्य के लिए अवकाश नहीं था फिर भी संस्था को अपनी समझ कर 'जैन तत्त्व ज्ञान दिग्दर्शन' का अवलोकन करने में अपना अनमोल समय दिया है। आद्योपान्त ग्रन्थावलोकन कर आपने अपनी ओर से उचित संशोधन-वर्द्धन लिख भेजा है। एतदर्थ संस्था आपका महान् आभार मानती है। भविष्य में भी आपका प्रोत्साहन चाहती है।

श्रीयुत पं० रतनलालजी सिंघवी न्यायतीर्थ, विशारद ने इस ग्रन्थ का लेखनकार्य सम्पादन करके मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म० सा० को पूर्ण सहयोग दिया है। संशोधन-वर्द्धन करके ग्रन्थ को उपयोगी सिद्ध किया है। एतदर्थ संस्था की ओर से आपका आभार मानता हूँ।

इस पुस्तक के द्रव्य सहायकों में बोरद-निवासी श्रीमान् गिरिधारीलालजी बालमुकुन्दजी लूंकड विशेष उल्लेखनीय हैं। इसीलिए संस्था ने साभार आप श्री की संक्षिप्त जीवन-वार्ता को इसी पुस्तक के आदि में स्थान दिया है। और भी प्रकट या अप्रकट रूप से जिन सज्जनों ने इस कार्य में सहयोग दिया है मैं उन सबका संस्था की ओर से आभार मानता हूँ।

अमोल जैन ज्ञानालय
गली नं० २ धुलिया (प० खा०)
ता० २५-८-५२

कन्हैयालाल छाजेड़
मंत्री

द्रव्य-सहायक

श्रीमान् दानवीर सेठ गिरिधारीलालजी सा० लूंकड़

का

संक्षिप्त परिचय

मासि मासि समा ज्योत्स्ना पक्षयोरुभयोरपि ।
तत्रैव शुक्ल पक्षोऽभूत यशः पुण्यैरवाप्यते ॥

प्रत्येक महिने में शीतल चन्द्र की चादनी सम होती है। किसी भी महीने में न्यूनाधिक नहीं होती। वैसे ही दोनों पक्ष में भी चन्द्रिका का माप समान ही होता है। एक ही महिने के दोनों पक्ष हैं। एक काली कालिमा का घर कहाता हैं। दूसरा शुभ्र-धवल चन्द्रिका-सदन। यश उसी के पलडे पड़ता है, श्रीपोते जिसके पुण्य होता है।

मानव मेदिनी के प्राङ्गण में भी दो तरह के मानवों का अवतरण होता रहता है। जिनके पुण्य-पुञ्ज प्रफुल्लित होते हैं, वे प्राप्त सुखोपभोग की सामग्री और अपने प्रभुत्व का सदुपयोग कर यश रूपी शरीर से अमर होने की आकांक्षा करते रहते हैं। और दूसरे वे हैं जो अखूट धन सम्पत्ति के स्वामी होते हुए भी आशा-तृष्णा के कीट हैं और इन्द्रियों के दास हैं। दोनों एक ही मानव मेदिनी की कुक्ष-कंदरा में अवतरे। सम काल और सम ही जीवनोपयोगी सामग्री है। फिर भी पहला शुक्ल पक्ष की तरह यश का स्वामी होता है। प्रिय पाठको! मैं जिस भव्य आत्मा का चित्र चित्रण कर रहा हूं वे भी यश रूपी चन्द्र की धवल चन्द्रिका से शुक्ल पक्ष की तरह आप शोभित हैं और विश्व की शोभा बढ़ा रहे हैं।

छप्पन का साल और अन्न-धन का अभाव। मनुष्य को यमराज का आह्वान था। श्रीमान् हीरालालजी सा० लूंकड दुष्काल का

सामना न कर सके। आपकी जन्मभूमि भढ़गाँव (पाचोरा) थी। जो पूर्व खानदेश में है। दुष्काल सर्व व्यापी था। फिर भी, "न बन्धु-मध्ये धनहीन-जीवनं" इस भावना से प्रेरित हो कर आपने जन्म-भूमि को अन्तिम प्रणाम किया। पश्चिम खानदेश बोरद में जो कि तालूका तलोदा में है, अपनी भाग्यपरीक्षा का केन्द्र बना लिया। यहाँ के पाटिल से आपको जीवन विकास के साधन मिले। रहने को मकान और व्यापार को वस्ती, दूसरा कोई व्यापारी बोरद में न आवे। हीरालालजी प्रति ऐसी हमदर्दी थी पाटिल की। ये सभी गर्भस्थ आत्मा के पुण्य के चिह्न थे। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती-श्रृङ्गार बाई गर्भवती थी। सूर्योदय से पहले ही तिमिर का पलायन होता है, स्वागत के लिए उपारानी आ धमकती है। उसी तरह गर्भ-स्थ आत्मा के पुण्य प्रताप से हीरालालजी सा० का दारिद्र-देव पलायन कर गया। मानो गिरते हुए दुख रूपी पहाड को गर्भस्थ आत्मा ने अपनी अंगूली पर उठा लिया है।

हीरालालजी सा० प्रामाणिक व नेक-नियत वाले व्यक्ति थे। सभी के प्रिय थे। धन के साथ यश बढ़ा। पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। दुखों के पहाड को इसी आत्मा ने उठाया है ऐसा मान अपने लड़के का नाम गिरिधर दिया। बालमुकुन्दजी और एक पुत्री यों तीन संतान थी आपके। ज्यों २ गिरिधारीलालजी सा० बढे त्यों २ धन भी बढ़ा। आज आप ही उस गाँव के जमींदार हो इतना मान सन्मान है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सयूदेवी अति सरला पतिव्रता रमणी-रत्न हैं। बालमुकुन्दमलजी सा० के तीन लड़के और चार पुत्रियाँ हैं। फत्तूरमलजी सबसे बड़े हैं और शांतिलालजी सबसे छोटे। मंजले रतनलालजी हैं। ये ही गिरिधारीलालजी के उत्तराधिकारी बने हैं। जैसा दोनों भाईयों में सम्प-स्नेह है वैसा ही देवर-जेठानी में प्रेम-भाव है। श्रीमती भीखीबाई मुकुन्दमलजी की धर्मपत्नी है। देवर जेठानी

दोनों श्रद्धालु व धर्मात्मा हैं। हीरालालजी सा० तो परलोक सिधारे। गृहस्थी के जुडे का एक सिरा गिरिधारीलालजी के कंधे है तो दूसरा बालमुकुन्दजी के कंधे। दोनों भाई कुशल व्यापारी हैं और धर्म-प्रेमी भी।

पडित मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महा० सा० ठाणा ५ व प्र० श्री राज कुंवरजी महा० ठाणा ४ का नन्दूरबार में चातुर्मास था। आप सपरिवार धर्मक्रिया करने के लिए नन्दूरबार में पधार गये थे। किराये का मकान ले लिया था। संत-सेवा के साथ साधर्मी की सेवा भी करते थे। आप यहां रहे वहां तक अपने चोके में स्वधर्मी को भी भोजन कराते रहे हैं। इन्हीं दिनों श्रीमान् बालमुकुन्दजी की धर्मपत्नी ने १५ उपवास, तपस्या की थी। महाराज श्री के ओजस्वी मर्मस्पर्शी व्याख्यानों से भीखी बाई प्रभावित होकर निम्नांकित रकम दान में दी हैं। गिरिधारीलालजी सा० को श्रीमती प्रवर्तिनी सायर-कुंवरजी म० सा० के प्रति अटूट भक्ति है। महासतीजी का आप पर अच्छा प्रभाव हैं। दान की रकम महासतीजी की प्रबल प्रेरणा का प्रतीक हैं।

१०००) श्री अमोलक जैन ज्ञानालय

२५१) साधारण फंड खाते

१५००) सम्वत्सरी के पारणे में भोजन व्यवस्था के लिए

५००) धर्मपत्नी भीखी बाई के १५ की तपस्या की ज्ञान-प्रभावना के लिए पुस्तक-प्रकाशन में

१५००) नन्दूरबार श्री संघ को स्थानक के लिए पहले दी हैं। इन बड़ी रकमों के अलावा और भी गुप्त दान देते रहे हैं। सारा परिवार धर्मात्मा और परम भक्त है। ऐसे दानवीरों से ही समाज की शोभा हैं। ईश्वर आपको चीरंजीव रखें।

—✦—

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया-संस्था में दान देने वाले

दानवीर सज्जनों की शुभ नामावली।

—जन्मदाता—

१	श्री- राजाबहादुरलाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी	हैद्राबाद
२	„ प्रेमराजजी चंदुलालजी छाजेड़	„
३	„ मोतीलालजी गोविंदरामजी श्रीश्रीमाल	धुलिया
४	„ हीरालालजी लालचन्दजी धोका	यादगिरी
५	„ केवलचन्दजी पन्नालालजी बोरा	बैंगलोर

— स्तंभ —

६	„ श्री संघ, बार्शी	बार्शी
७	„ दलीचन्दजी चुन्नीलालजी बोरा	रायचूर
८	„ शंभुलालजी गंगारामजी मुथा	बैंगलोर
९	„ अगरचन्दजी मानमलजी चोरडिया	मद्रास
१०	„ कुन्दनमलजी लूँकड की सुपुत्री श्री सायरबाई	बैंगलोर

११ ,, नानचन्दजी भगवानदासजी दुगड़ घोड़नदी
१२ ,, वस्तीमलजी हस्तीमलजी मुथा रायचूर
१३ ,, तेजराजजी उदेराजजी रुनवाल ,,
१४ ,, मुकनचन्दजी कुशलराजजी भंडारी ,,
१५ ,, नेमिचन्दजी शिवराजजी गोलेच्छा वेलूर
१६ ,, पुखराजजी संपतराजजी धोका यादगिरी
१७ ,, इंदरचन्दजी गेलड़ा मद्रास
१८ ,, विरदीचन्दजी लालचन्दजी मरलेचा ,,
१९ ,, जसराजजी वोहरा की धर्मपत्नी श्री केशरवाई सुरापूर
२० श्री चंपालालजी लोढा की पत्नी श्रीमती घीसीवाई सिकंदरावाद
२१ ,, चंपालालजी पगारिया मद्रास
२२ ,, सज्जनराजजी मुथा की धर्मपत्नी श्री उमरावबाई आलंदूर म.
२३ ,, श्री अमोलक जैन स्थानकवासी सहायक समिति पूना

—संरक्षक—

२४ श्री किसनलालजी वच्छावत मुथा की पत्नी गिलखीवाई रायचूर
२५ ,, हंसराजजी मरलेचा की धर्मपत्नी मेहतावबाई आलंदूर म०
२६ ,, जयवंतराजजी भवरलालजी चोरडिया मद्रास
२७ ,, निहालचदजी मगराजजी साकला वेलूर
२८ ,, लाला रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी पार्वतीबाई हैदराबाद
२९ ,, पुखराजजी लुंकड की धर्मपत्नी गजराबाई वेंगलोर
३० ,, किसनलालजी फूलचन्दजी लुणिया ,,
३१ ,, मिश्रीलालजी कात्रेला की धर्मपत्नी मिश्रीबाई ,,
३२ ,, उमेदमलजी गोलेच्छा की सुपुत्री मिश्रीबाई हैदराबाद
३३ ,, गाढमलजी प्रेमराजजी चांठिया सिकंदराबाद
३४ ,, मुलतानमलजी चंदनमलजी सांकला ,,
३५ ,, जेठालाल रामजी की पत्नी स्व. जवलबाई ,,

३६ ,, गुलावचन्दजी चौथमलजी वोहरा — रायचूर
३७ ,, जसराजजी शांतिलालजी ,, — ,,
३८ ,, दौलतरामजी अमोलकचंदजी धोका — यादगिरी
३९ ,, मांगीलालजी भंडारी — मद्रास
४० ,, हीराचदजी खिवराजजी चोरड़िया — ,,
४१ ,, किसनलालजी रुपचंदजी लुणिया — ,,
४२ ,, मांगीलालजी वन्सीलालजी कोटडिया — ,,
४३ ,, मोहनलालजी प्रकाशमलजी दुगड़ — ,,
४४ श्री पुखराजजी मिठालालजी वोहरा — पेरम्बूर मद्रास
४५ ,, राजमलजी शांतिलालजी पोखरणा — ,, ,,
४६ ,, रुपचंदजी उदयचंदजी कोठारी — ,, ,,
४७ ,, आर. जेतरामजी कोठारी — ,, ,,
४८ ,, जवानमलजी सुराणा की धर्मपत्नी पपावाई आलंदूर — मद्रास
४९ ,, मिश्रीलालजी राका की ,, मिश्रीवाई पुदूपेठ — ,,
५० ,, माणकचंद चुत्तर की ,, रतनवाई वेलूर — ,,
५१ ,, वोरीदासजी पोरवाल की धर्मपत्नी पानीवाई — वैंगलोर
५२ ,, श्री. एम. कन्हैयालालजी एण्ड ब्रदर्स समदड़िया — वैंगलोर
५३ ,, हीराचंदजी सांखला की धर्मपत्नी भुरीवाई — ,,
५४ ,, निहालचन्दजी घेवरचन्दजी भटेवरा — वेलूर
५५ ,, वनेचन्दजी विजेराजजी भटेवरा — ,,
५६ ,, गुलावचन्दजी केवलचन्दजी भटेवरा — ,,
५७ ,, गुप्तदान एक वहिन — ,,
५८ ,, रामचन्द्रजी वांठिया की धर्मपत्नी पानीवाई — ,,
५९ ,, खिजराजजी धाड़ीवाल की धर्मपत्नी मिश्रीवाई — ,,
६० ,, संपतराजजी एण्ड कम्पनी — तिरपातूर
६१ ,, आसकरणजी चौरड़िया की धर्मपत्नी केशरवाई उलंदूर पेठ
६२ ,, जुगराजजी, खिवराजजी केवलचन्दजी चरमेचा श्रीपेरमपूर

६३ ,, नवलमलजी शंभुमलजी चोरड़िया मद्रास
६४ ,, मिश्रीलालजी पारसमलजी कात्रेला बैंगलोर
६५ ,, केशरमलजी घीसुलालजी कटारिया ,,
६६ ,, मुलतानमलजी चन्दनमलजी गरिया ,,
६७ ,, चुनीलालजी की धर्मपत्नी भुमाबाई ,,
६८ ,, अचलदासजी हंसराजजी कव्हाड सिंधनूर
६८ ,, एन. शांतिलाल वलदोटा पूना
७० ,, धोंडीरामजी की धर्मपत्नी रंगुबाई निफाड

विषय-सूची

(इ) प्रथम से सात मार्गणा तक उपभेद वर्णन
(ई) चारित्र मार्गणा के भेद और व्याख्या
(उ) दर्शन और लेश्या वर्णन-भेदपूर्वक
(ऊ) भव्यत्व-अभव्यत्व विवेचन
(ए) संज्ञित्व और सम्यक्त्व का भेदपूर्वक परिचय
(ऐ) आहार के भेद परिभाषापूर्वक
(ओ) आहारकत्व और अनाहारकत्व विवेचन

नोटः—विषयों के अन्तर्गत उपविषयों का वर्णन करते हुए अनेक स्थानों पर उपविषय वाचक 'शीर्षक' रूप से नहीं दिये जा सके हैं, अतएव कृपालु पाठक उन्हें यथास्थान पर समझने की कृपा करें ।

१ परिशिष्ट संख्या प्रथमः—

पुस्तक में आगत पारिभाषिक शब्दों का शब्द-कोश

२ परिशिष्ट संख्या द्वितीयः—

नय-प्रमाण-समीक्षा (निबंध)
(अनुसंधान रूप ऐतिहासिक पद्धति से)

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

बाल-ब्रह्मचारी श्रीमज्जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज संबंधी संक्षिप्त जीवन-परिचय

१ जन्म-स्थान—भोपाल (मालवा)।

२ माता-पिता का नाम—सुश्री हुलासाबाई और श्री केवलचंद काँसटिया, (ओसवाल बड़े साथ)।

३ जन्म-तिथि—संवत १६३३ भाद्रपद कृष्णा ४ दिन के ६ बजे।

४ दीक्षा ग्रहण तिथि—संवत् १६४४ फाल्गुन कृष्णा २ गुरुवार स्थान-आष्टा (भोपाल)।

५ दीक्षा के समय आयु—वर्ष ११, महिना ५ और दिन २७।

६ बत्तीस शास्त्र अनुवाद कार्य—संवत् १६७२ के कार्तिक शुक्ला ५ गुरुवार, पुष्प नक्षत्र, स्थान-हैदराबाद। और कार्य समाप्ति-तीन वर्ष और पन्द्रह दिन याने सं० १६७५ मिगसर वदी ५।

७ आचार्यपद महोत्सव तिथि—संवत् १६८६ ज्येष्ठ शुक्ला १२ बुधवार, स्थान इन्दौर, सर सेठ हुक्मीचन्दजी की नसियाँ में।

८ बृहद् साधु सम्मेलन—अजमेर संवत् १६६० चैत्र शुक्ला १० बुधवार को सम्मिलित हुए।

६ विहार क्षेत्र—दक्षिण भारत, हैदराबाद स्टेट, कर्नाटक, बेंगलोर, मैसूर स्टेट, महाराष्ट्र प्रदेश, खानदेश, विन्ध्य प्रदेश, बरार, बंबई प्रदेश, गुजरात, कच्छ, काठियावाड़, मालवा, मेवाड़, मारवाड़, गोरवाड़, दिल्ली. पंजाब, शिमला आदि।

१० संयम-काल—पूर्ण वैराग्यमय, कर्मण्यतामय और साहित्य-सेवा करते हुए सानंद व्यतीत किया। आप श्री बाल ब्रह्मचारी थे, सभी संप्रदाय के संत समुदाय और श्रावक वर्ग पूज्य श्री जी के प्रति समान भावसे प्रेम, सहानुभूति; भक्ति और आदर रखते थे। आप शांत, दांत और क्षमाशील थे। अपने युग में आपश्री एक आदर्श-साधु के रूप में विख्यात तथा सम्मानित थे।

११ साहित्य सेवा—आपश्री द्वारा अनुवादित, संपादित, लिखित और संग्रहित एवं रचित ग्रंथों की संख्या १०२ हैं। जिनकी कुल प्रतियाँ १७६३२५ प्रकाशित हुईं। कुल ग्रंथों की मूल प्रेस कापी के पृष्ठों की संख्या पचास हजार जितनी है।

१२ दीक्षित शिष्य—आप द्वारा दीक्षित संतों की याने खुदके शिष्यों की संख्या १४ है।

१३ संयम काल—पूज्यश्रीजी ने ४८ वर्ष, ६ महीना और १२ दिन तक साधु-जीवन की याने संयमकाल की परिपालना की।

१४ पुण्य-तिथि—संवत १९९३ के दूसरे भाद्रपद कृष्णा १४ तदनुसार तारीख १३-९-१९३६ की रात्रि के ११॥ बजे धूलिया (पश्चिम खानदेश) में समाधिपूर्वक एवं शान्ति के साथ स्वर्गवास किया। उस समय पूज्य श्रीजी की आयु ६० वर्ष और ९ दिन की थी।

नोटः—चरित्र-नायक पूज्यश्री जी के पिताश्री जी केवलचन्दजी ने भी दीक्षा ग्रहण की थी, और वे "तपस्वी श्री केवल ऋषिजी" के नाम से जैन-समाज में विख्यात और पूजनीय हुए।

श्री अमोल जैन ग्रंथमाला पुष्प-संख्या १३

जैन तत्त्वज्ञान-दिग्दर्शन

[नय-प्रमाण आदि विवेचन]

: लेखक :

शास्त्रोद्धारक श्रीमज्जैनाचार्य धर्मदिवाकर
पूज्यश्री अमोलकऋषिजी महाराज

: संयोजक :

पण्डित मुनि कल्याणऋषिजी महाराज

॥ ॐ अरिहंत-सिद्धेभ्यो नमः ॥

जैन-तत्वज्ञान-दिग्दर्शन

श्री अनुयोग द्वार शास्त्र में प्रमाण, नय-निक्षेप, द्रव्य, ध्यान आदि अनेक विध तात्त्विक ज्ञान २५ द्वारो मे समुपलब्ध है, उसी के अनुसार लिपि-बद्ध करते हुए प्रारम्भ में मूल रूप से नाम-निर्देश किया जाता है—

(१) नय सात, (२) निक्षेपा चार, (३) द्रव्य, गुण, पर्याय, (४) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव; (५) द्रव्य और भाव (६) कारण और कार्य (७) निश्चय और व्यवहार (८) उपादान कारण और निमित्त कारण (९) प्रमाण चार (१०) गुण और गुणी (११) सामान्य और विशेष (१२) ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञानी (१३) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (१४) आधार-आधेय (१५) आवि-र्भाव तिरोभाव (१६) मुख्यता और गौणता (१७) उत्सर्ग और अपवाद (१८) आत्मा तीन (१९) ध्यान चार (२०) अनुयोग चार (२१) जागरणा तीन (२२) सप्त भंगी के भंग सात (२३) हानि-वृद्धि के छः प्रकार (२४) द्रव्य के छः भेद और (२५) मार्गणा के चौदह भेद ।

नयवाद :: प्रथम-द्वार

अब इनका प्राथमिक विवेचन क्रमशः किया जाता है:—

(१) वस्तु के एक अंश को जानने वाला ज्ञान 'नय' कहा जाता है। नय के सात भेद इस प्रकार हैं:—

(१) नैगम नय (२) संग्रह नय (३) व्यवहार नय (४) ऋजु-सूत्र नय (५) शब्द नय (६) समभिरूढ़ नय और (७) एवंभूत नय।

जो नय एक गम याने एक विकल्प रूप ही नहीं हो, किन्तु जो अनेक विकल्पों द्वारा, अनेक मान, अनुमान और प्रमाण द्वारा वस्तु-स्वरूप को समझाता हो, पदार्थ को सामान्य-विशेष तथा उभयात्मक मानता हो, तीनों काल की बात मंजूर करता हो, चारों निक्षेपों को स्वीकार करता हो, किसी भी वस्तु में अंश-मात्र गुण होने पर भी उसे पूर्ण वस्तु मानता हो, ऐसा ज्ञान *नैगमनय* कहलाता है।

(२) जो वस्तु की सत्ता को ग्रहण करता हो, केवल एक संज्ञा का निर्देश करने मात्र से ही गुण और पर्याय सहित द्रव्य को जो ग्रहण कर लेता हो, थोड़े कथन में ही जो अधिक समझता हो, वह *संग्रह-नय* है। यह सामान्य को मानता है, विशेष को

नहीं, जब सामान्य से ही पूर्ण अर्थबोध हो जाता है, तो फिर विशेष की क्या आवश्यकता है ? तीनों काल की बात मानता है, और चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है। जैसे कि— किसी स्वामी ने अपने नौकर को कहा कि— 'दाँतून' लाओ, इसपर वह नौकर स्थिति समझकर दाँतून, झारी, काँच, कंघा, मसी, सिलाई, सुरमा इत्यादि तात्कालिक वस्तुएं लाकर देता है। इसी प्रकार 'पान' लाओ, कहने पर वह नौकर पान, सुपारी, कत्था, चूना, मसाला आदि लाकर सेवा में उपस्थित कर देता है। इस प्रकार संग्रहनय वाला एक शब्द में अनेक वस्तु को ग्रहण करता है।

(३) जो नय 'वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्ष रूप से जैसा दिखलाई पड़े, उसी के अनुसार तथा उन्हीं गुणों से युक्त उस वस्तु को माने' वह व्यवहार नय है।

इस नय को केवल आचार और क्रिया की ही आवश्यकता है, अन्तःकरण के परिणामों की ओर यह उपेक्षित रहता है। यह नय सामान्य पर्याय की ओर उदासीन रहता है और विशेष पर्याय के प्रति ही अपना दृष्टिकोण व्यक्त करता है। इसकी परिधि तीनों काल और चारों निक्षेप सहित है।

जैसे कोयल काली है, तोता हरा है, हंस श्वेत है। इस प्रकार विभिन्न पक्षियों में विभिन्न रंग होने पर भी यह नय विभिन्नता के प्रति उपेक्षा रखता हुआ केवल 'रंग के अस्तित्व' का ही समर्थन करता है, न कि रंग संबंधी विभिन्नता का उल्लेख।

(४) जो नय पदार्थ की केवल वर्तमानकालीन पर्याय का ही विचार-विमर्श करता है, जिसका दृष्टिकोण सरल होता है, जो सामान्य पर्याय के प्रति उदासीन और विशेष पर्याय का ही समर्थन करता है, तीनो काल में से जो भूत और भविष्य के प्रति तटस्थ रहता है, एवं केवल एक भाव निक्षेप को ही समझता है। यह *ऋजुसूत्र नय* कहलाता है। कोई कहे कि सौ वर्ष पूर्व स्वर्ण-मुद्रा की वृष्टि हुई थी, अथवा सौ वर्ष पश्चात् स्वर्ण-मुद्रा की वृष्टि होगी, ये दोनो बातें इस नय के लिये निरर्थक हैं। इस पर एक दृष्टान्त है कि:— कोई साहूकार अपने मकान की पौषध-शाला में सामायिक करके बैठा था, उस समय किसी दूसरे पुरुष ने आकर उसके बेटे की बहू को पूछा कि—'तुम्हारे श्वसुर कहाँ गये हैं ?' उसने उत्तर दिया कि 'वे तो बाजार में सूंठ मीर्ची आदि खरीदने लिये गये हैं' तो उस पुरुष ने पंसारी बाजार मे जाकर सेठजी को ढूंढ़ा, परन्तु वे नहीं मिले। इसपर पुनः उनके घर पर आकर बोला कि 'वे तो बाजार मे नहीं मिले, सही बतलाओ कि कहाँ गये हैं ?' बहू ने पुनः उत्तर दिया कि 'वे तो चमार के यहाँ जूते खरीदने गये हैं।' बेचारा आदमी चमार के यहाँ गया, परन्तु वे वहाँ पर भी नहीं मिले। लौटकर सेठजी के घर आया, तो इतने में सेठजी सामायिक का समय पूर्ण होने पर सामायिक परिपूर्ण और आवश्यक बातचित करके उसको रवाना किया। घर में आकर बहू से बोले कि 'तूं दो बार झूठ क्यों बोली ?' तब उसने उत्तर दिया कि 'आपका मन उस समय क्रमशः पंसारी के यहाँ और मोची के यहाँ गया हुआ था, इसलिये मैंने उस पुरुष से ऐसा कहा।' इस प्रकार ऋजुसूत्र नय वाला वर्त्तमान काल को मुख्य रखकर वस्तु-स्वरूप का बयान करता है।

(५) *शब्द नय* वाला पदार्थ को सामान्य रूप नहीं मानता है, किन्तु विशेष रूप ही समझता है। वर्त्तमान काल की बात स्वीकार करता है। केवल भाव-निक्षेप के साथ पर्याय वाची शब्दों को एक ही अर्थ वाला मानता है। परन्तु काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थ भेद का प्रतिपादन करता है। जैसे शक्र, पुरन्दर शचीपति, देवेन्द्र सबको एक-रूप ही मानता है।

(६) *समभिरूढ़ नय* वाला पदार्थ को सामान्य नहीं मानता है, किन्तु विशेष ही स्वीकार करता है। वर्त्तमान काल की बात समझता है। और भावनिक्षेप को स्वीकार करता है। पर्यायवाची शब्दों को भी भिन्न २ पदार्थ का द्योतक बतलाता है। जैसे शक्रेन्द्र— जब शक्रासन पर बैठा हुआ अपनी शक्ति द्वारा देवताओं को आज्ञानुसार चलाता है, तभी वह शक्रेन्द्र है। पुरन्दर— जब वज्र हाथ मे लेकर वैरी देवताओं के पुर को विदारे याने नाश करे, उसी समय में वह पुरन्दर है। शचीपति— जब इन्द्राणियों की सभा मे बैठा हुआ रंग-राग, ३२ प्रकार के नाटक-खेल आदि देखे और इन्द्रिय-जनित सुखों का अनुभव करे, उसी समय में वह शचीपति है। देवेन्द्र— जब देवताओं की सभा में बैठा हुआ न्याय करें तभी वह देवेन्द्र है। इस प्रकार यह नय व्युत्पत्ति के अनुसार एकार्थ वाचक शब्दों मे भी भिन्न-भिन्न अर्थ को प्रकट करता है। यह कुछ न्यूनांश वस्तु को भी संपूर्ण वस्तु मानता है। जैसे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले के केवली भगवान् को भी यह नय सिद्ध भगवान् के रूप में ही स्वीकार करता है।

(७) जिस समय कोई भी पदार्थ अपने नाम अनुसार क्रिया और गुणों से संयुक्त हो तथा वह पदार्थ गुणों के अनुसार ही जब अर्थ-क्रिया में संलग्न हो, इसके सिवाय उस पदार्थ संबंधी गुण, पर्याय, धर्म आदि सभी प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई पड़ते हों तभी उस पदार्थ को उसी रूप से कहना, ऐसा *एवंभूत नय* का मन्तव्य है। यदि एक अंशमात्र भी गुण कम हुआ तो वह उस पदार्थ को उस रूप में मानने से अपनी अस्वीकृति प्रकट कर देता है। यह सामान्य धर्म नहीं मानता है, किन्तु विशेष धर्म को ही मानता है। काल की दृष्टि से वर्तमानकालीन पर्याय को ही अपना विषय बनाता है। निक्षेप की दृष्टि से केवल भाव निक्षेप ही स्वीकार करता है। इस नय के मत से वस्तु तभी पूर्ण होती है, जब वह अपने संपूर्ण गुणों से युक्त हो और यथावत् क्रिया से संयुक्त हो। घड़े को घड़ा तभी मानना, जब कि वह जल सहित तदनुरूप कार्य करता हो। जल-धारण क्रिया के अभाव में घड़े को घड़ा नहीं कहना। अथवा जैसे शक्रेन्द्र अपने सिंहासन पर बैठे हुए न्याय-क्रिया से रहित हों और मन देवियों की ओर गया हुआ हो तो उस समय इस नय के अनुसार उन्हें शक्रेन्द्र न कह कर शचीपति कहना होगा। सारांश यही है कि पदार्थ नामानुसार व्युत्पत्ति करते हुए वैसी ही अर्थक्रिया से संयुक्त और शक्तिशाली हो, तभी उस पदार्थ को उस रूप मानना, अन्यथा उसे दूसरा समझना। यही *एवंभूत नय* का तात्पर्य और लक्षण है।

अब सातों नय पर एक समुच्चय दृष्टांत दिया जाता है:—

नैगम नय वाले से किसी ने पूछा कि तुम कहाँ रहते हो?

उत्तर— मैं लोक में रहता हूँ।

प्रश्न—लोक तो तीन हैं, अतः तुम कौनसे लोक मे रहते हो ?

उत्तर— मे तिरछे लोक में रहता हूँ।

प्रश्न—तिरछे लोक में तो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, तुम कहाँ रहते हो ?

उत्तर— मे जंबूद्वीप मे रहता हूँ।

प्रश्न— जंबूद्वीप में ६ क्षेत्र हैं, तुम्हारा क्षेत्र कौनसा है ?

उत्तर— भरत क्षेत्र ही मेरा निवास स्थान है।

प्रश्न— भरत क्षेत्र मे तो ३२ हजार देश हैं, अतः तुम्हारा देश कौनसा है ?

उत्तर— मगध देश ही मेरी मातृ-भूमि है।

प्रश्न—मगध देश मे तो अनेक ग्राम हैं, इन में से तुम्हारा कौनसा ग्राम है ?

उत्तर— राजगृह नगर ही मेरा जन्म स्थान है।

प्रश्न— राजगृह नगर में तो अनेक मोहल्ले हैं, इसलिये तुम्हारा मोहल्ला कौनसा है ?

उत्तर— नालंदा नामक मोहल्ले में मेरा घर है।

प्रश्न— नालंदा नामक मोहल्ले मे तो बहुत घर हैं। तुम कहाँ रहते हो ?

उत्तर— मैं मध्य के घर मे रहता हूँ।

यह सभी प्रश्नोत्तर नैगम नय के अनुसार ही समझना। पुन. संग्रह नय वाला बोला कि मध्य के घर मे तो अनेक कमरे हैं, अतः ऐसा कहो कि मैं मेरे बिछौने जितने स्थान पर ही रहता

हूँ। इसपर व्यवहार नयवाले का कथन है कि क्या संपूर्ण बिछौने पर रहते हो ? ऐसा तो नहीं है, इसलिये ऐसा बोलो कि— 'मेरा शरीर जितने आकाश-प्रदेश व्यापी है. उतने ही क्षेत्र में रहता हूँ।'

इस संबंध में ऋजु-सूत्र नय वादी की मान्यता है कि—'शरीर मे तो हड्डी, मांस, चर्म, केश, असंख्यात सूक्ष्म जीव, बादर वायु-काय, कृमि, आदि बेइन्द्रिय जीव बहुत हैं, इसलिये ऐसा कहना चाहिये कि मेरी आत्मा में जितने प्रदेश है, उन्हीं मे मैं रहता हूँ।'

इस पर शब्द नयवादी का पक्ष है कि— 'आत्मा के प्रदेशों के साथ तो धर्मास्तिकाय आदि के असंख्यात प्रदेश हैं, अतः ठीक उत्तर यही है कि— मैं मेरे स्वभावों में रहता हूँ।'

किन्तु समभिरूढ़ नय वाला इसी बात को इस रूप में कहना चाहेगा कि— 'योग, उपयोग, लेश्या आदि जो स्वभाव रूप परिणाम हैं, वे तो प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं, अत. ऐसा कहो कि— 'मैं मेरी आत्मा के गुणों में निवास करता हूँ।'

इसी दृष्टिकोण को एवंभूत नयवादी इस प्रकार व्यक्त करेगा कि— 'आत्मा के मूल गुण दो हैं, ज्ञान और दर्शन। भगवान् का आदेश है कि एक समय में दो गुणों मे व्याप्ति नहीं हो सकती है, अतः जिस समय में आत्मा के जिस गुण का उप-योग प्रवृत्तिशील हो, उस समय में मैं उसी गुण में निवास करता हूँ।' इस प्रकार क्रम से सातों नयों का दृष्टिकोण समझ लेना चाहिये।

सातों नयों पर पुनः संक्षेप रूप से पायली का दृष्टांत दिया जाता है:—

जैसे एक बढ़ई को एक पायली बनानी थी, इस हेतु लकडी लेने के लिये जब वह वन की ओर चला तो, मार्ग में किसी पथिक ने पूछा कि कहाँ जा रहे हो ? उसका दृष्टिकोण नैगम नयवादी था, अतः उत्तर दिया कि 'पायली लेने के लिये जा रहा हूँ' इसी प्रकार लकडी को लेकर घर आते समय, लकडी को काटकर उपयोगी बनाते समय, लकड़ी को पायली के रूप में बनाते समय भी, जब २ किसी ने पूछा कि यह क्या है ? तब प्रत्येक बार और प्रत्येक व्यक्ति को यही उत्तर देता रहा कि यह 'पायली है।' यह सारा दृष्टिकोण नैगम नयानुसार ही है।

संग्रह नयवाला इस विषय में अपने भाव इस प्रकार व्यक्त करेगा कि—'लकडी ही पायली नहीं है, किन्तु बनकर तैयार होने पर ही पायली कही जायगी।'

व्यवहार नय वादी अपने पक्ष को इस प्रकार प्रस्तुत करेगा कि— अनाज का संग्रह किया जायगा, तभी यथार्थ में पायली शब्द द्वारा वाच्यार्थ की सिद्धि हो सकेगी। ऋजुसूत्र नय-वादी अपने मन्तव्य को इस प्रकार उपस्थित करेगा कि—'अनाज का संग्रह करने मात्र से ही पायली नहीं कही जा सकेगी, परन्तु धान्य का माप करने से पायली कही जायगी।'

शब्द नय का पक्ष लेने वाला इसी बात को यों कहेगा कि— 'माप करने से पायली नहीं कही जायगी, परन्तु माप करते समय—एक, दो, तीन, आदि रूप से गणना करने पर पायली का कथन युक्ति-युक्त होगा।'

समभिरूढ़ नय को मानने वाला इस संबंध में अपने भाव इस प्रकार प्रकट करेगा कि—'कार्य का आधार लेकर और कार्य के अनुसार पायली द्वारा यथाविधि कार्य करते हुए गणना करोगे तभी वास्तविक अर्थ मे पायली वाच्य की वाचिका सिद्ध होगी'

एवंभूत नय पर आधार रखने वाला इसी तात्पर्याव-बोधक विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करेगा कि— 'संपूर्ण अर्थों में पायली का सदुपयोग करते समय भी उपयोगपूर्वक अर्थक्रिया होती रहेगी, तभी पायली वास्तव मे पायली होगी, अन्यथा सामान्य लकडी मात्र ही रहेगी।'

इस प्रकार इन सातों नयों को दृष्टि मे रखते हुए सापेक्ष-वचनों द्वारा अपने मन्तव्य को और श्रद्धा को प्रकट करने वाला ही सच्चा जैन है और केवल एक पक्ष को ही सर्वस्व समझने वाला और उसे ही खींचनेवाला अन्यमति अथवा मिथ्यात्वी कहा जायगा। स्पष्ट रूप से प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य उन सभी कारणों के समुप-स्थित होने पर ही सिद्ध हुआ देखा जाता है। कारणों की अपूर्णता होने पर कार्य की भी अपूर्णता हुआ करती है। इस संबध में एक उदाहरण दिया जाता है कि:— किसी ने प्रश्न किया कि धान्य किस कारण से उत्पन्न हुआ करती है? इस पर एक ने उत्तर दिया कि – 'पानी से।' दूसरे ने कहा कि— 'पृथ्वी से।' तीसरा बोला कि— 'हल से।' चौथे ने समझाया कि— 'बादल से।' पाँचवें ने अपने भाव यों प्रकट किये कि— 'बीज से।' छट्ठे का कथन था कि 'ऋतु से।' और सातवें ने जाहिर किया कि— 'भाग्य से।' अब विचार किया जाय कि, इन सातों में

से कौनसा सच्चा है? और कौनसा झूठा है? यदि सातों ही अपने-अपने पक्षपर अड जाँय और एक दूसरे से विवाद करने लग जाँय तो, परिणाम स्वरूप सातों ही झूठे और मिथ्या सिद्ध होंगे। इसके विपरीत यदि सातों ही अपेक्षा पूर्वक अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करें तो सभी सत्यवान् प्रमाणित होंगे। इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह सिद्धान्त प्रकट हुआ कि:—'वस्तु-विवेचन की शैली सातो नयो की अपेक्षा रखते हुए वर्णन करने पर ही सत्ययुक्त और प्रामाणिक हुआ करती है अन्यथा नहीं।'

इन सातो नयों मे से—१ नैगम, २ संग्रह और ३ व्यवहार ये तीन नय तो व्यवहार के अनुसार कथन-शैली रखने वाले हैं, अत: ये व्यवहारवादी कहे जाते हैं। चौथा ऋजूसूत्र नय व्यवहार और निश्चय दोनो का पक्षपाती है। जबकि शेप तीन नय, शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत निश्चय-पक्षवादी हैं, ये व्यवहार पर आश्रय नहीं रखते हैं। वस्तु के मुख्य-धर्म को आश्रय करके विवेचन करने वाली ज्ञान-प्रणालि 'व्यवहार नय' है और वस्तु के निज-गुण-धर्म को आश्रय करके विवेचन करने वाली ज्ञान-प्रणालि 'निश्चय नय' है।
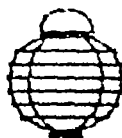
निक्षेपवाद :: द्वितीयद्वार

प्रतिपाद्य वस्तु का स्वरूप समझाने के लिये नाम, स्थापना आदि भेदों द्वारा वस्तु का विवेचन करना निक्षेप है। मूल रूप से निक्षेप के चार भेद हैं:— १ नाम-निक्षेप, २ स्थापना-निक्षेप, ३ द्रव्य-निक्षेप, ४ और भाव-निक्षेप।

नाम-निक्षेप के तीन भेद हैं:— १ यथार्थ नाम, २ अयथार्थ नाम, और ३ अर्थ शून्य नाम।

जैसा नाम हो, वैसा ही गुण भी हो तो वह यथार्थ-नाम निक्षेप है। जैसे किसी का नाम 'महावीर' है और वह यदि बडा भारी वीर हो, तो वह यथार्थ नाम निक्षेप कहा जायगा। यथा नाम तथा गुण न हो तो वह अयथार्थ नाम निक्षेप है। जैसे—हाथी-सिंह, न तो हाथी के गुण हैं और न सिंह के ही। अतः यह अयथार्थ नाम निक्षेप है।

जिन शब्दों का कोई अर्थ नहीं निकलता हो और जो अर्थ-शून्य नाम हो, वह अर्थ-शून्य नाम निक्षेप है। जैसे—चगड़सिंह, रचलडसिंह आदि। ये नाम अर्थ-शून्य हैं।

प्रतिपाद्य वस्तु के सदृश आकारवाली वस्तु में प्रतिपाद्य वस्तु की स्थापना करना स्थापना निक्षेप कहलाता है। जैसे—जंबूद्वीप के चित्र को जम्बूद्वीप कहना; शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, वजीर आदि कहना।

स्थापना निक्षेप के ४० भेद हैं, (१) काष्ठ की, (२) चित्र की, (३) मोतियों की, (४) मिट्टी आदि लेप की, (५) गांठों की, (६) कसीदे की, (७) कोरणी की, (८) वस्तु की, (९) किसी वस्तु के पड़ने से अकस्मात् आकार बन जावे उसकी और (१०) वस्त्र की।

(१) इन दशो का एक आकार बनावे। यो २० भेद हुए। इन बीसो की (१) सद्भाव स्थापना करना और (२) असद्भाव स्थापना करना, इस प्रकार ४० भेद होते हैं।

जिस ढंग के मनुष्य-प्राणी अथवा वस्तु हो, उसका जैसा का तैसा हुबहू लक्षण व्यजन युक्त स्वरूप उसकी ऊँचाई चौडाई भी तदनुरूप ही, तथा परिपूर्ण शैल्या उसके समान ही रूप-लक्षण शील आकृति बना देना, जिसे देखने पर उसका ही भान हो जाय, यथातथ्य वैसा ही स्वरूप, आकृति आदि प्रतिभाषित हो जाँय, वह सद्भाव स्थापना निक्षेप है।

इसके विपरीत मन-कल्पित आकृति बनाकर उसे तदनुरूप कहना, असद् भाव स्थापना है। जैसे कि गोल पत्थर पर सिंदूर तेल आदि लगाकर उन्हे भेरूँजी कहना, असद्-भाव स्थापना निक्षेप है।

जो पदार्थ आगामी परिणाम की योग्यता रखनेवाला हो, उसे उस अवस्था से संबोधित करना, जैसे राजा के पुत्र को राजा कहना, यह द्रव्य निक्षेप है। अतीत अनागत पर्याय के कारण को भी द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। इसके दो भेद हैं:— (१) आगम द्रव्य निक्षेप और (२) नो आगम द्रव्य निक्षेप।

शास्त्र आदि का पठन पाठन तो करे, परन्तु न तो उसका अर्थ समझे और न उपयोगपूर्वक पढ़े अथवा बोले, शून्य चित्त द्वारा तोता रटन मात्र करले, वह आगम द्रव्य निक्षेप है।

नो आगम द्रव्य निक्षेप के तीन भेद हैं।

(१) जानक शरीर द्रव्य निक्षेप, (२) भव्य शरीर द्रव्य निक्षेप, और (३) जानक शरीर-भव्य शरीर तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप।

(१) जैसे कोई श्रावक आवश्यक सूत्र का ज्ञाता था, और वह मृत्यु को प्राप्त हो गया, परन्तु उसका शरीर पडा हुआ है, उसे देखकर यह कहना कि— यह आवश्यक का ज्ञाता था। अथवा खाली घडे को देखकर यह कहना कि यह घी का घड़ा था। इत्यादि कथन-शैली जानक शरीर द्रव्य-निक्षेप है।

(२) जैसे किसी श्रावक के घर पर लडके का जन्म हुआ, उस समय उसको देखकर कोई कहे कि यह आवश्यक का ज्ञाता होगा, अथवा जैसे नये घड़े को देखकर कोई कहे कि यह घी का होगा। यह कथन भव्य शरीर नो-आगम द्रव्य निक्षेप के अनुसार है।

(३) जानक शरीर-भव्य शरीर-तद्व्यतिरिक्त द्रव्य-निक्षेप के ३ भेद हैं। (१) लौकिक, (२) लोकोत्तर, और (३) कुप्रावचनिक।

(१) राजा, सेठ, सेनापति आदि द्वारा सभा मे बैठकर अवश्य करने योग्य कामों का किया जाना। यह लौकिक, तद्-व्यतिरिक्त द्रव्य-निक्षेप है।

(२) खाते हुए फिरने वाले, रास्ते मे पड़े हुए चीथड़ों को पहिनने वाले, चर्म को पहिनने वाले, भिक्षा मांगकर खाने वाले,

शरीर पर भस्म लगाने वाले, बैल को रमाकर आजीविका करने-वाले, गाय की वृत्ति से चलने वाले, गृहस्थ धर्म को ही कल्याण-कारी मानने वाले, यज्ञादि धर्म की चिन्ता करने वाले, विनय-वादी, नास्तिकवादी, तापस, ब्राह्मण-प्रमुख, पाखंडमार्ग में चलने वाले इत्यादि मिथ्यात्वियो द्वारा नित्य नियमानुसार ओ३म् कार आदि का ध्यान किया जाना तथा पत्थर के देव-देवियो के स्थान पर गोबर आदि से लीपना, संमार्जन करना, सुगंधित जल छिड़कना, धूप देना, पुष्प चढ़ाना, गन्ध देना, सुगंधित माला आदि का पहिनाना, यह सब कु-प्रावचनिक द्रव्य निक्षेप है।

(३) जो नाम से तो साधु कहे जाते है, परन्तु साधु के गुण से रहित है, षटकाय जीवों की दया से रहित हैं, घोड़े जैसे उन्मत्त है, हाथी जैसे निरंकुश हैं, शरीर की शृंगार द्वारा शोभा बढ़ाने वाले हैं, जो मठों मे रहने वाले हैं, तप-रहित हैं, भगवान् की आज्ञा के बाहिर चलने वाले है, और जो दोनों समय आव-श्यक करने वालें है, वे सब लोकोत्तर द्रव्य-निक्षेप के अनुसार है।

जिस वस्तु के जो गुण हैं, उन गुणों से वह वस्तु युक्त हो, ऐसी स्थिति में गुणानुसार वस्तु का निरूपण करना भाव-निक्षेप है। जैसे जीव के निज गुण ज्ञान आदि और अजीव के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि। गुण रहित वस्तु को उस गुण से सहित बोलना भाव-निक्षेप नहीं है।

भाव-निक्षेप के दो भेद हैं:— (१) आगम से भाव-निक्षेप और (२) नो-आगम से भाव निक्षेप।

(१) शुद्ध परिणामों के साथ भावार्थ पर उपयोग लगाकर अन्तःकरण की रुचिपूर्वक शास्त्र पढ़ना अथवा पढ़ाना। यही आगम से भाव निक्षेप है।

(२) नो आगम से भाव-निक्षेप के तीन भेद हैं:—

(१) लौकिक, (२) कु-प्रावचनिक, और (३) लोकोत्तर। (१) जो व्यक्ति प्रातः काल में उपयोग सहित महाभारत को और दोपहर के बाद उपयोग पूर्वक रामायण पढ़ते हैं तथा सुनते हैं, उसको लौकिक नो आगम से भाव-आवश्यक कहते हैं।

(२) जो जैनेतर मतावलंबी शुद्ध उपयोग सहित और अर्थपूर्वक ॐ आदि का ध्यान करते है, वह कु-प्रावचनिक नोआगम भाव निक्षेप है।

(३) श्रमण-साधु, श्रमणी-साध्वी, माहण-श्रावक माहणी-श्राविका प्रातःकाल और सायंकाल शुद्ध उपयोग सहित आवश्यक करते हैं, यही लोकोत्तर नो आगम से भाव-निक्षेप है। साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं द्वारा रात एवं दिन की संधि मे यह अवश्य किया जाता है, अतएव इसको आवश्यक कहा जाता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय :: तृतीय द्वार

द्रव्य के दो भेद हैं:—१ जीवद्रव्य और २ अजीवद्रव्य। पुनः जीवद्रव्य के दो भेद हैं:—१ रूपी जीव और २ अरूपी जीव। सिद्ध भगवान् अरूपी जीव हैं। तथा आठो कर्म सहित संसारी जीव रूपी जीव हैं। उनके ५६३ भेद होते हैं।

अजीवद्रव्य भी दो प्रकार का है—अरूपी अजीव और रूपी अजीव। अरूपी अजीव के ३० भेद हैं तथा रूपी अजीव के ५३० भेद होते हैं।

जिसमें निरन्तर नई-नई पर्यायें उत्पन्न होती रहती हों और पूर्व की पर्यायें नष्ट होती रहती हो, फिर भी जिसकी मूलसत्ता का कभी भी नाश नहीं होता हो, एवं जो अक्षय, अनादि और सत् स्वरूप हो वही द्रव्य है।

जिन अंशों से द्रव्य बना हो और जो द्रव्य के अभिन्न अंग हों तथा जिनमे निरन्तर पर्यायों की उत्पत्ति अथवा विलय होता रहता हो, वे ही गुण कहलाते हैं।

जीव के गुण ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप है। इनमें से ज्ञान एवं दर्शन तो जीव के निजगुण हैं और ये अनादि अनन्त हैं। चारित्र तथा तप निजगुण को प्रकट करने वाले हैं; अतएव ये औपचारिक गुण कहलाते हैं। ये सादि और सान्त होते हैं।

अजीव के गुण इस प्रकार हैः—धर्मास्तिकाय का गुण जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य को चलने में सहायता देना है। अधर्मास्तिकाय का गुण इन्हीं द्रव्यों को स्थिर रहने में सहायता देना है। आकाशास्तिकाय का गुण सभी द्रव्यों को रहने के लिये अवकाश देने का है।

कालद्रव्य का गुण वर्तना गुण है; पर्यायों के परिवर्तन में सहायक होना है। ये चारों अनादि और अनन्त हैं।

पुद्गलास्तिकाय का गुण सडन, गलन और विध्वंसन रूप है। द्रव्यरूप से यह अनादि और अनन्त रूप है। पर्याय रूप से सादि और सान्त है।

जीवद्रव्य में दो प्रकार की पर्यायें पाई जाती हैः-१ आत्म-भाव पर्याय और २ कर्मभाव पर्याय। ज्ञान, दर्शन आदि की हानि वृद्धि आत्मभाव पर्याय है और कर्म प्रकृतियों के पलटने से उत्पन्न होने वाली अवस्था विशेष ही कर्म-भाव पर्याय है। आत्मभाव पर्याय में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का परिवर्तन होता है। इनमें से केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायिक सम्यक्त्व तो सादि और अनन्त पर्याय रूप हैं।

मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और अचक्षुर्दर्शन उपयोग की पर्यायें अभव्य जीव के आश्रय से अनादि और अनन्त हैं। पडि-वाई याने प्रतिपाती सम्यक्दृष्टि जीव के आश्रय से सादि और सान्त हैं। भव्य जीव के आश्रय से अनादि और सान्त हैं।

विभंगज्ञान, चक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, मति, श्रुति, अवधि और मनः पर्यायज्ञान सादि हैं तथा अपेक्षा विशेष से अनन्त रूप भी हैं।

कर्म भाव पर्याय कुम्भकार द्वारा निर्मित मिट्टी के वर्तनों के समान विभिन्न रूप हैं। जैसे वर्तनों के अनेकानेक नाम होते हैं, वैसे ही कर्मवशात् ४ गति, २४ दंडक, ८४ लाख जीव योनियाँ आदि रूप कर्म-भाव पर्यायें जीव की समझनी चाहिये।

गुण और पर्यायो का जो आश्रय-स्थल होता है, उसे ही द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य की और पर्याय की पहिचान कराने वाला ही गुण कहलाता है।

जीव-आश्रित ज्ञान आदि गुणों में जो परिवर्तन होता है, तथा अजीव आश्रित वर्ण आदि में जो परिवर्तन होता है, उसे ही पर्याय कहा जाता है।
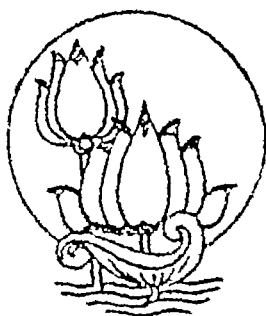
द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव
चौथा द्वार

(१) द्रव्य

द्रव्य के ६ भेद हैं:—१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ काल, ५ जीवास्तिकाय, और ६ पुद्-गलास्तिकाय।

इन छह ही द्रव्यों की सामान्यता और विशेषता बतलाने की दृष्टि से नीचे चौदह बोल क्रमशः दिये जाते हैं.—

(१) जीव और पुद्गल परिणामी और चार अपरिणामी।

(२) केवल जीव द्रव्य ही सचित्त और ज्ञानमय, शेष पाँच अजीव याने जड और चेतनरहित।

(३) केवल पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्तिमय याने रूपवाला और बाकी पाँच अमूर्तिक याने रूप रहित।

(४) केवल काल ही अप्रदेशी है, और पाँच सप्रदेशी हैं।

(५) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीन द्रव्य तो एक एक ही हैं, शेष तीन अनेक हैं।

(६) आकाश क्षेत्र रूप है पाँचों द्रव्य क्षेत्री है, याने पाँचो आकाश का आधार लेकर ठहरे हुए हैं।

(७) जीव और पुद्गल क्रियाशील हैं, जब कि शेष चार अक्रिया वाले हैं।

पुनः ऊपर कहे हुए मतिज्ञान के भेदों में से चक्षु इंद्रिय मतिज्ञान और मनजनित मतिज्ञान के तो चार २ भेद होते हैं और बाकी के चार इंद्रियों सम्बंधी मतिज्ञान के भेदों के पाँच २ होते हैं। तदनुसार इन छह ही भेदों के मिलकर २८ उपभेद हुए जो कि इस प्रकार हैं:—

संख्या	मूल भेद	उपभेद					योग
		व्यंजन अवग्रह ४	अर्थ अवग्रह ६	ईहा ६	अवाय ६	धारणा ६	२८
१	स्पर्शना इन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,	५
२	रसना इन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,	५
३	घ्राण इन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,	५
४	श्रवण इन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,	५
५	चक्षु इन्द्रिय	× नहीं होता	,,	,,	,,	,,	४
६	भाव इन्द्रिय	× नहीं होता	,,	,,	,,	,,	४
						योग कुल	२८

उपभेदों के मूलनामों की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) नाम, जाति, रूप, रंग आदि किसी भी प्रकार की विशेष कल्पना से रहित जो अतिसामान्य रूप एवं निर्विचार रूप ज्ञान होता है, वही 'अवग्रह' है। जैसे गहन अन्धकार में कुछ छू जाने पर 'यह कुछ है' ऐसा ज्ञान होना। इस ज्ञान में यह नहीं मालूम होता है कि किस वस्तु का स्पर्श हुआ है। यह अव्यक्त, अस्पष्ट और विशेषता से रहित होता है।

(२) अवग्रह द्वारा जो कुछ अति सामान्य और निर्विकल्प ज्ञान हुआ है, उसीके सम्बन्ध में विशेष जानकारी करने के लिये जो विचारणा अथवा विकल्प पैदा होते हैं, उसे ही 'ईहा' कहा जाता है। जैसे कि मुझे 'जो कुछ छू सा (स्पर्श-सा) गया है', वह सर्प था या रस्सी? यदि सर्प होता तो 'पैर पड गया था', अतएव उसे सरकना चाहिये था, परन्तु वह वस्तु सरकी नहीं, अतः सर्प नहीं था, किन्तु वह तो केवल रस्सी का टुकड़ा मात्र था। इस ढंग की विचार-श्रेणी ईहा कहलाती है।

(३) ईहा के द्वारा जो कुछ विचारणा और जो कुछ निश्चयात्मक कल्पना उत्पन्न हुई है, उसका विशेष रीति से दृढ़ होना और अधिक स्पष्ट एवं कुछ अधिक समय तक स्मृति में रहना, यही ज्ञान 'अवाय' कहलाता है। जैसे कि—उक्त दृष्टान्त में ही यह स्थिति रहना कि—मैं अमुक स्थान पर जा रहा था तब मेरे पैर में रस्सी छू गई थी और वह किसी भी दशा में सर्प नहीं था, रस्सी ही थी।

(४) अवाय रूप ज्ञान ही जब लंबे समय तक हमारी विचार-धारा में बना रहे और भविष्य में भी अनुकूल संयोग

मिलने पर तत्काल स्मृति में आ जाय, कदापि विस्मृति रूप न हो, ऐसा ज्ञान ही 'धारणा' कहलाता है। अवाय रूप ज्ञान के पश्चात् जो ज्ञान हमारी मस्तिष्क शक्ति में संस्कार रूप से बना रहे और दृढ़ीभूत स्मृति में परिणित हो जाय, वही ज्ञान धारणा है।

ये चारों ही भेद इन्द्रियों और मन की सहायता से संबंध रखते हैं, इसलिये ये मतिज्ञान की ही पर्यायें हैं। ये चारों क्रम से ही उत्पन्न होते हैं। अति शीघ्रता की स्थिति में भी इनका क्रम टूटता नहीं है। जैसे कि—यदि पतले पतले सौ कागजों की तह को अति तीक्ष्ण नोक वाली सूई के अग्रभाग से विंधा जाय-छेदा जाय-तो प्रतीत होगा कि जैसे एक सेकिंड में छिद जाने पर भी प्रत्येक कागज मे छेद क्रम से ही पड़ा है, वैसे ही इन चारों ज्ञान-पर्यायों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

उपरोक्त 'स्पर्श-संबंधी' दृष्टान्त केवल स्पर्शना इन्द्रिय का ही दिया गया है, शेष इन्द्रियों और मन संबंधी दृष्टान्त अपने आप ही समझ लेना चाहिये।

ऊपर जो २८ भेद वाला नक्शा दिया गया है, उन उप-भेदों में से प्रत्येक उपभेद के पुनः बारह बारह भेद होते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) बहुग्राही, (२) अबहु-अल्प-ग्राही, (३) बहुविधग्राही, (४) एकविधग्राही-अबहुविधग्राही, (५) शीघ्रग्राही, (६) अक्षिप्र-ग्राही, (७) सलिंगग्राही, (८) अलिंगग्राही, (९) संदिग्धग्राही, (१०) असंदिग्धग्राही, (११) ध्रुवग्राही और (१२) अध्रुवग्राही।

इनकी सामान्य व्याख्या इस प्रकार है—

चूंकि प्रत्येक ससारी जीव के कर्मों का क्षयोपशम भिन्न भिन्न प्रकार का होता है, अतएव ज्ञान की धारा भी भिन्न भिन्न प्रकार की होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि अनेक प्राणी जब एक ही स्थान पर ठहरे हुए हों और शंख, नगांडा आदि कई एक तरह २ के वाद्य-वाजे वज रहे हैं तो उनके शब्दों मे से उनका ज्ञान सभी को भिन्न २ तरह से होता है, किसी को शीघ्रता से तो किसी को देरी से, किसी को क्रम से, तो किसी को एक साथ, किसी को निश्चित रूप से, तो किसी को अनिश्चित रूप से यही ज्ञान-क्रम इन वारह ही प्रभेदों के सम्बन्ध मे जान लेना चाहिये। इनकी स्थूल व्याख्या इस प्रकार है—

(१) एक ही समय मे अनेक शब्दों का ग्रहण किया जाय, बहुग्राही ज्ञान है।

(२) एक ही समय में एक ही शब्द का ग्रहण किया जाना अवहुग्राही ज्ञान है।

(३) भिन्न २ प्रकार से भेदभाव पूर्वक शब्दों का ग्रहण किया जाना, वहुविधग्राही ज्ञान है।

(४) भेदभाव रहित ग्रहण किया जाना अवहुविधग्राही ज्ञान है।

(५) जल्दी से ग्रहण किया जाना, क्षिप्रग्राही ज्ञान है।

(६) देरी मे ग्रहण किया जाना, अक्षिप्रग्राही ज्ञान है।

(७) लक्षणों के आधार से अनुमान द्वारा ग्रहण किया जाना, सलिंगग्राही ज्ञान है।

(८) विना अनुमान किये ही ग्रहण किया जाना, अलिंग-ग्राही ज्ञान है।

(६) शकासहित ग्रहण किया जाना, संदिग्धग्राही ज्ञान है।

(१०) शंका रहित ग्रहण किया जाना, असंदिग्धग्राही ज्ञान है।

(११) निश्चयात्मक रूप से एक ही बार सुन लेने पर समझ लेना, ध्रुवग्राही ज्ञान है।

(१२) अनिश्चयात्मक रूप से समझना, अध्रुवग्राही ज्ञान है

इस प्रकार ऊपर बतलाये हुए २८ उपभेदों में से प्रत्येक उपभेद के ये १२ प्रकार के प्रभेद हुआ करते हैं, यों २८ को १२ से गुणा करने पर ३३६ भेद-उपभेद-प्रभेद मतिज्ञान के समझना चाहिये। मन और आँख द्वारा पदार्थों को बिना छुए ही ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है, जब कि बाकी की चारों इंद्रियों का पदार्थ के साथ स्पर्श एव सम्बध होने पर ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि व्यंजनावग्रह नामक ज्ञान-पर्याय मन और आँख के नहीं हुआ करती है, तदनुसार मन और आँख के अर्थावग्रह, ईहा आदि चार ही भेद गिनाये है, किन्तु शेष चार इंद्रियों का पदार्थों के साथ सम्बंध होना अति आवश्यक है। इसी कारण से इन चारों के व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा आदि रूप से पाँच २ भेद किये गये हैं, यही अन्तर ध्यान में रखना चाहिये। व्यंजनावग्रह अर्थावग्रह का ही एक पूर्व रूप है. जो कि निश्चेष्ट, निर्विकल्प, और निष्प्रवृत्ति रूप अति अस्पष्ट ज्ञान-पर्यायरूप होता है। 'मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध' आदि शब्द मतिज्ञान के ही पर्यायवाची शब्द है, क्योंकि इन शब्दों से जो कुछ अर्थ निकलता है, वह सब इंद्रियों और मन से उत्पन्न हुआ ही होता है। जो कि मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्बंध रखता है।

जिस आत्मा के क्षयोपशम की स्थिति उच्च दर्जे की होती है, वह तो 'बहुग्राही, क्षिप्रग्राही, बहुविधग्राही, असंदिग्धग्राही ध्रुव ग्राही' आदि ज्ञान-पर्यायों का धारक हुआ करता है, और जिस आत्मा के क्षयोपशम की स्थिति निम्न दर्जे की हुआ करती है, उसके लिये 'अबहुग्राही, अक्षिप्रग्राही, संदिग्धग्राही' आदि ज्ञान पर्याय में उत्पन्न हुआ करती हैं।

इन बारह भेदों में से आदि के चार भेद तो विषय याने ज्ञेय रूप पदार्थ से सम्बंध रखने वाले हैं, जब कि बाकी के आठ भेद क्षयोपशम से सम्बंध रखते हैं।

यह भी ध्यान में रहे कि मतिज्ञान के ये भेद द्रव्य की पर्याय को ही ग्रहण करते हैं, न कि सम्पूर्ण द्रव्य को। इसलिये इस ज्ञान द्वारा द्रव्य का ज्ञान-पर्याय रूप से ही हुआ करता है और उपचार से उस पर्याय को ही द्रव्य माना जाता है। जैसे आँख द्वारा आम देखा गया और समझा गया कि यह 'आम' नामक फल है। किन्तु इस घटना में केवल 'आम' नामक पदार्थ का रूप-रंग और आकार ही जाना गया है। न कि उसके स्वाद को और न उसके गुण और गंध को ही। फिर भी रूप-रंग और आकार आम के अभिन्न अंग हैं, एवं इसी कारण से एक अंश के आधार से ही सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान हुआ मान लिया गया है। इसी तरह से स्पर्शना, रसना और घ्राण इन्द्रियाँ जब गरम गरम गुलाब जामुन आदि मिठाई रूप पदार्थ को ग्रहण करती हैं, उस समय में वे क्रम से उस पदार्थ के गरम स्पर्श, मीठे रस और सुगंध रूप पर्याय का ज्ञान करती हैं, कोई भी एक और अकेली इन्द्रिय ही उस पदार्थ की सभी पर्यायों का ज्ञान नहीं कर सकती है। इसी प्रकार से श्रवण इन्द्रिय भी भाषा

वर्गणा के पुद्गलों की ध्वनिरूप पर्याय का ही ज्ञान कर सकती है, न कि भाषा वर्गणा के पुद्गलों की अन्य पर्यायो को भी जान सकती है। मन-शक्ति की भी यही दशा है, वह मन भी एक समय में किसी भी पदार्थ के अमुक भाग का ही विचार कर सकता है। इस प्रकार उपरोक्त स्पष्टीकरण से यह सिद्ध है कि म तज्ञान के ये भेद पर्याय को ही जानते हैं और पर्याय के ज्ञान द्वारा ही द्रव्य का स्वरूप भी जानते हैं।

अवग्रह, ईहा, आदि चार भेद पदार्थ की सामान्यस्थिति के सूचक हैं, जबकि 'बहुविध' आदि बारह भेद विशेष स्थिति के सूचक हैं। व्यञ्जनावग्रह ज्ञानोत्पत्ति क्रम का एक अति सूक्ष्मतम और अव्यक्ततम अंश मात्र है और यही अंश जब क्रम से विकास करता है, तो उसे ही 'धारणा' कहा जाता है। ये सब श्रुता-बद्ध ज्ञान-पर्यायें हैं।

इन ३३६ भेदों को समझाने वाला नक्शा इस प्रकार है:-

इस ढग से मतिज्ञान के ये ३३६ भेद जैन साहित्य में देखे जाते हैं। इनके सिवाय चार प्रकार की बुद्धि भी मतिज्ञान के भेदो के अन्तर्गत मानी जाती है, जो कि इस प्रकार है—(१) औत्पातिकी बुद्धि, (२) वैनयिकी बुद्धि, (३) कार्मिकी बुद्धि, और (४) पारिणामिकी बुद्धि। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) प्रसंग पड़ने पर कार्य की सिद्धि करने के लिये जो एकाएक उत्पन्न हो जाय, वह औत्पातिकी बुद्धि है।

(२) गुरुजनों की और पूजनीय पुरुषो की सेवा-भक्ति करने से एवं विनय से प्राप्त होने वाली बुद्धि वैनयिकी बुद्धि है।

(३) अभ्यास करते २ और कार्य मे संलग्न रहते रहते, उत्पन्न होने वाली बुद्धि कार्मिकी बुद्धि है।

(४) दीर्घ आयु प्राप्त होने पर सांसारिक परिस्थितियो के कारण से अनुभव द्वारा प्राप्त होने वाली बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि है।

इस प्रकार पूर्व के ३३६ भेदों मे बुद्धि सम्बन्धी ये चार भेद और मिलाने पर मतिज्ञान के कुल मिला कर ३४० भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान वर्णन

श्रुतज्ञान के भेदों का वर्णन करने के पहले यदि श्रुतज्ञान सम्बन्धी कुछ मीमांसा कर ली जाय, तो वह अप्रासंगिक नहीं मानी जायगी।

यह ध्यान मे रहे कि मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। क्योंकि मतिज्ञान के होने पर ही श्रुतज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है। इसीलिये जैन साहित्य मे प्रमाण-चर्चा के प्रसंग पर यह देखा जाता है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। जिस विषय का श्रुतज्ञान करना हो, उस विषय का मतिज्ञान पहले होना अति आवश्यक और अनिवार्य है। इसीलिए कहा जाता है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान का पालक और पूरक होता है।

यह भी एक सैद्धान्तिक नियम है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान के लिये केवल बहिरंग कारण रूप ही है। अन्तरंग कारण तो वास्तव में श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही है। मान लिया जाय कि मतिज्ञान का तो अस्तित्व है, परन्तु श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है, तो ऐसी स्थिति में श्रुतज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी।

(८) पुद्गल द्रव्य अनित्य है, अतएव प्रत्येक क्षण उसके रूप, रस, गंध, और स्पर्श में अन्तर आता रहता है। शेष पांच नित्य हैं।

(९) जीव द्रव्य अकारणी है; पाँच कारणी हैं।

(१०) जीव कर्त्ता है; पाँच अकर्त्ता हैं।

(११) आकाश सर्वव्यापी है; पाँच व्यापक हैं।

(१२) जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय, ये तीन द्रव्य तो असंख्यात प्रदेशी हैं, काल अप्रदेशी है, तथा आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय अनन्त प्रदेशी हैं।

(१३) आकाश लोकालोक के बराबर है, काल ढाई द्वीप पर्यन्त ही है, और शेष चार द्रव्य लोकाकाश तक ही सीमित हैं।

(१४) छः ही द्रव्य अनादि हैं और अनन्त हैं, अंत रहित हैं।

इस प्रकार विविध ढंग से आगम-ग्रंथों में छः ही द्रव्यों के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तारपूर्वक वर्णन पाया जाता है।

(२) क्षेत्र

(२) क्षेत्र—मूल रूप से क्षेत्र के दो भेद हैं, अलोक और लोक। अलोक तो अनन्त और असीम है। लोक ३४३ राजु घनाकार विस्तार में है।

राजु की परिभाषा इस प्रकार कही गई है:—

३८१२७९७० मन का एक भार तोल विशेष माना जाय, ऐसे १००० भार का वजनी लोहे का एक गोला यदि कोई देव विशेष ऊपर आकाश क्षेत्र से नीचे की ओर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर फेंके, ऐसा गोला फेंकने पर वह गोला ६ महीने, ६ दिन

और ६ घड़ी मे जितनी दूरी पार करे, उतनी दूरी वाले क्षेत्र की लंबाई एक राजु के समान समझना।

पहली नरक १० घन राजु के विस्तार मे फैली हुई है। दूसरी १६ घन राजु के विस्तार में है। इस प्रकार तीसरा २२ घन राजु, चौथी २८ धन राजु, पांचवी ४४ घन राजु, छट्ठी ३४ घन राजु और सातवीं ४६ घन राजु के विस्तार मे फैली हुई है। यों सब मिलाकर १९६ घन राजु वाला नीचा लोक है। तिरछा अथवा मध्य लोक १० घन राजु के विस्तार वाला है। ऊर्ध्वलोक अथवा ऊँचा लोक क्षेत्रफल की दृष्टि से १३७ घनाकार राजु वाला है:-

(१) पहला और दूसरा देवलोक १९॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(२) तीसरा और चौथा देवलोक १६॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(३) पाँचवाँ और छट्ठा देवलोक ३७॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(४) सातवाँ और आठवाँ देवलोक १४॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(५) नववाँ और दशवाँ देवलोक १२॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(६) ग्यारहवाँ और बारहवाँ देवलोक १०॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(७) नवग्रैवेयक देवलोक ८॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(८) पाँच अनुत्तर विमान देवलोक ६॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(६) सिद्ध क्षेत्र ११ घनाकार राजु वाला है।

इस प्रकार संपूर्ण लोक का क्षेत्रफल ३४३ घनाकार राजु जितना है।

लोक के मध्य भाग मे एक राजु जितनी चौडी और १४ राजु जितनी लम्बी एवं बिल्कुल सीधी एक त्रस नाड़ी रूप क्षेत्र है, जो कि सातवीं नरक के ठेठ नीचे के भाग से प्रारम्भ हो कर मोक्ष-स्थान के अंतिम छोर तक चला गया है। इस क्षेत्र में त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीव हैं। लोक के शेष क्षेत्रफल मे केवल स्थावर जीव ही रहते हैं। नीचा लोक सात राजु जितना है, मध्य लोक १८०० योजन जितना है; तथा ऊर्ध्व लोक याने ऊंचा लोक भी १८०० योजन कम सात राजु जितना है इस प्रकार मे सम्पूर्ण लोक की ऊंचाई १४ राजु जितनी है।

(३) काल

(३) काल—आँख के एक निमेष मात्र में-एक टमकारा मात्र में—जितना काल व्यतीत होता है; वह असंख्यात समय वाला गिना जाता है। असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है। ४४४६ आवलिकाओं के बराबर एक श्वासोच्छ्वास जितना काल माना जाता है। सात श्वासोच्छ्वास जितने काल के बराबर एक स्तोक माना जाता है। सात स्तोक का एक लव होता है। ७७ लवों का एक मुहूर्त्त गिना जाता है। ३० मुहूर्त्त का दिन-रात गिना जाता है। १५ दिन रात्रि का एक पक्ष होता है। दो पक्षों का एक महिना; २ महिनों की एक ऋतु; ३ ऋतुओं का एक अयन, दो अयनों का एक वर्ष, और ५ वर्षों का एक युग; गिना जाता है।

काल-चक्र का परिमाण इस प्रकार माना जाता है:—

(१) अनन्त सूक्ष्म परमाणु = एक बादर परमाणु।

(२) अनन्त बादर परमाणु=एक उष्ण श्रेणिवाला पुद्गल।

(३) आठ उष्ण श्रेणिवाले पुद्गल=एक शीत श्रेणिवाला पुद्गल।

(४) आठ शीत श्रेणिवाले पुद्गल=एक ऊर्ध्व रेणु।

(५) आठ ऊर्ध्व रेणु=एक त्रस रेणु।

(६) आठ त्रस रेणु=एक रथ रेणु।

(७) आठ रथ रेणु=देवकुरु उत्तर कुरुक्षेत्र के युगलिआ पुरुष का एक वालाग्र भाग।

(८) देवकुरु उत्तरकुरु क्षेत्र के युगलिआ पुरुष के आठ वालाग्र भाग=हरिवास, रम्यक् वास क्षेत्र के मनुष्य का एक वालाग्र भाग।

(९) हरिवास, रम्यक् वास क्षेत्र के मनुष्य के आठ वालाग्र भाग=हैमवत, हिरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य का एक वालाग्र भाग।

(१०) हैमवत, हिरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य के आठ वालाग्र भाग=महाविदेह क्षेत्र के मनुष्य का एक वालाग्र भाग।

(११) महाविदेह क्षेत्र के मनुष्य के आठ वालाग्र भाग = एक लीख की लम्बाई।

(१२) आठ लीखों की लम्बाई=१ जूँ की लंबाई।

(१३) आठ जूँओं की लम्बाई=एक जौ (धान्य) का मध्य भाग।

(१४) आठ जौ कणों का मध्यभाग=एक अच्छे ६ अंगुल की लंवाई।

(१५) ऐसे छह अंगुलों की लम्बाई=एक पउ भाग।

(१६) दो पउओं का एक वालिश्त।

(१७) दो वालिश्तो का एक हाथ।

(१८) दो हाथों की लंवाई—एक कुक्षी प्रमाण।

(१९) दो कुक्षी प्रमाणों के वरावर एक धनुष्य।

(२०) दो हजार धनुष्यों का एक गाऊ।

(२१) चार गाऊओं के वरावर एक योजन।

(२२) पल्योपम का मापदंड इस प्रकार कहा गया है—

मान लिया जाय कि एक ऐसा कूप है, जो कि एक योजन लंवा हो, एक योजन चौड़ा हो और एक ही योजन गहरा हो, उसमें देवकुरु, उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य के सात दिन के बच्चे के वालाग्र बराबर बालों को खंड खंड करके भरे जाँय और विशेषता यह हो कि वे बाल इस प्रकार खंडित किये जाँय; कि उनके पुनः टुकड़े किसी भी तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा भी नहीं हो सकें, तथा आँख में डालने पर भी जो खटकने सरीखे नहीं हो, ऐसे मुलायम और सूक्ष्मतम एवं अखंडनीय बालाग्र-समूहों से वह कूप इस प्रकार ठसाठस भरा जाय कि—यदि चक्रवर्ती की संपूर्ण सेना उस पर से निकल जाय, तो भी उसमें दबाव नहीं पड़े, यदि गंगा नदी का ६२॥ योजन जितना पाट का प्रवाह उस पर से बह जाय, तो भी पानी का प्रवाह उसमें प्रवेश कर सके नहीं, ऐसी आश्चर्यजनक स्थिति होने पर ही १००-१०० वर्ष व्यतीत होने पर उसमें से क्रमशः एक एक रज निकालते हुए जितने वर्षों

से वह कूप सर्वथा खाली हो जाय और उसमें एक भी रज शेष नहीं रहे, उतने वर्षों का एक पल्योपम समझना चाहिये।

ऐसे दश करोड़ा करोड़ी (करोड़ करोड़) पल्योपमों का एक सागरोपम होता है।

दश करोड़ाकरोड़ी सागरोपमों का एक उत्सर्पिणी काल होता है और पुनः दश करोड़ाकरोड़ी सागरोपमों का ही एक अवसर्पिणी काल माना जाता है। यो दोनों को मिलाने पर एक कालचक्र होता है। इस प्रकार आज दिन तक अनंतानंत कालचक्र व्यतीत हो गये हैं और भविष्य में भी अपरिमित अनंतानंत कालचक्र जितना समय होगा।

(४)

भाव-वर्णन

मुख्यरूप से भाव पाँच प्रकार के कहे गये हैं—औदयिक-भाव, औपशमिक भाव, क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव और पारिणामिक भाव।

(१) औदयिक भाव २१ प्रकार का कहा गया है, जो कि इस प्रकार है—

(१) चार गतियाँ—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति।

(२) चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ।

(३) छह प्रकार की लेश्याएँ—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

(४) तीन वेद—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

(५) एक मिथ्यात्व, एक अज्ञान, एक अव्रत अथवा असंयम और एक असिद्ध भाव।

(२) औपशमिक भाव दो प्रकार का है—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

(३) क्षायिक--भाव ९ प्रकार का कहा गया है:--दान अन्तराय आदि पाँच अन्तराय कर्म का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाली पाँच लब्धियाँ--दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि और बलवीर्य लब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और नववाँ क्षायिक यथाख्यात चारित्र।

(४) क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद बतलाये गये हैं.--

(१) आदि के चार ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान और मनःपर्यायज्ञान।

(२) तीन अज्ञान—मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग अज्ञान।

(३) आदि के तीन दर्शन--चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन।

(४) दान—अंतराय आदि पाँचो अन्तरायो के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली पाँचो क्षायोपशमिक लब्धियाँ इस प्रकार हैं:-दान-क्षायोपशमिक लब्धि, लाभ-क्षायोपशमिक लब्धि, भोग क्षायोपशमिक लब्धि, उपभोग क्षायोपशमिक लब्धि और बल-वीर्य क्षायोपशमिक लब्धि, ये पाँच क्षायोपशमिक लब्धियाँ जानना।

(१६) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (१७) क्षायोपशमिक चारित्र और (१८) क्षायोपशमिक संयमासंयम व्रत अर्थात् देश विरति चारित्र।

(५) पाँचवें पारिणामिक भाव के ३ भेद किये गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं—(१) जीवत्व परिणाम, (२) भव्यत्व परिणाम और (३) अभव्यत्व परिणाम।

इन पांचों भावों के पुनः कई एक उपभेद एवं प्रभेद भी होते हैं, जिनका वर्णन अब किया जाता है:—

उदय भावों के दो भेद हैं, उदय सम्बन्धी और उदय-निष्पन्न। आठों कर्मों द्वारा फल प्रदान करना और इनका उदय में आना ही उदय सम्बन्धी भाव है।

उदय-निष्पन्न भी दो प्रकार का है, जीव सम्बन्धी उदय और अजीव से सम्बन्धित उदय।

जीव से सम्बन्धित उदय के ३१ भेद कहे गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं :-

(१ से ४) चारगति—नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति।

(५ से ८) चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

(९ से १४) छह लेश्याएँ—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या।

(१५ से २०) ६ काय—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय वायु काय, वनस्पतिकाय, और त्रसकाय।

(२१ से २३) तीन वेद—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद।

(२४) मिथ्यात्व, (२५) अव्रत, (२६) अज्ञान, (२७) असंज्ञित्व, (२८) आहारस्थ, (२९) संसारस्थ, (३०) अकेवलिस्थ, (३१) असिद्धत्व।

अजीव से संबंधित उदय के ३० भेद हैं:-

(१ से ५) पाँच शरीर—औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस् शरीर और कार्माण शरीर।

(६ से १०) पाँचों शरीरों के रूप में परिणित होने वाले पाँचों प्रकार के पुद्गल विशेष।

(११ से १५) पाँच वर्ण—काला, पीला, नीला, सफेद और लाल

(१६ से १७) दो गंध—सुगंध और दुर्गंध।

(१८ से २२) पाँच रस—खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला और चरपरा।

(२३ से ३०) आठ स्पर्श—कोमल, कठोर, हल्का, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

उपशम-भाव भी दो प्रकार का है—उपशम सम्बन्धि और उपशम निष्पन्न।

उपशम—सम्बन्धी से तात्पर्य है-मोहनीयकर्म की प्रकृतियों की उपशम अवस्था। ढकी हुई अवस्था। उपशम-निष्पन्न ग्यारह प्रकार का कहा गया है:—चार कषाय, १ राग, १ द्वेष, १ दर्शन मोहनीय, १ चारित्र मोहनीय, १ दर्शनलब्धि, १ चारित्रलब्धि, १ छद्मस्थभाव, अर्थात् उपशम वीतराग अवस्था (ग्यारहवाँ गुण स्थान)।

क्षायिकभाव भी दो प्रकार का है—

(१) क्षायिक-संबंधित और (२) क्षायिक-निष्पन्न।

क्षायिक-सम्बन्धित से तात्पर्य "आठों कर्मों का क्षय होना ही" है।

क्षायिक-निष्पन्न ३७ प्रकार का है:--

(१ से ५) पाँच ज्ञानावरणीय-मतिज्ञानावरणीय, श्रुत-ज्ञानावरणीय, अवधि ज्ञानावरणीय, मनःपर्याय ज्ञानावरणीय और केवल ज्ञानावरणीय।

(६ से १४) नौ दर्शनावरणीय-चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षु-दर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि।

(१५-१६) दो वेदनीय-सातावेदनीय और असातावेदनीय।

(१७ से २४) आठ मोहनीय-तीन दर्शनमोहनीय और पाँच चारित्रमोहनीय।

(२५ से २८) चार आयुष्य कर्म।

(२९-३०) दो नामकर्म-शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म।

(३१-३२) दो गोत्रकर्म-शुभ गोत्र कर्म और अशुभ गोत्र कर्म। (उच्च और नीच)

(३३ से ३७) पाँच प्रकार का अन्तराय। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

इस प्रकार क्षायिक निष्पन्न के ३७ भेद हुए।

क्षयोपशम भाव के दो भेद—१ क्षयोपशम से सम्बन्धित और क्षयोपशम से निष्पन्न। "क्षयोपशम से संबधित" का तात्पर्य है—चार घनघाती कर्मों का क्षयोपशम करना। घनघाती कर्मों के नाम इस प्रकार हैं—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) मोहनीय और (४) अन्तराय।

क्षयोपशम से निष्पन्न के ३० भेद हैं-(१ से ४) आदि के चार ज्ञान-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान।

(५ से ७) तीन अज्ञान-मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान।

(८ से १०) तीन दर्शन--चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन।

(११ से १३) तीन दृष्टि-सम्यक् दृष्टि, मिथ्या दृष्टि और मिश्र दृष्टि।

(१४ से १७) प्रथम के चार चारित्र-सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहार विशुद्धि चारित्र और सूक्ष्म साम्परायिक चारित्र।

(१८ से २२) दान आदि पाँच लब्धियाँ।

(२३ से २७) पाँचों इन्द्रियों की लब्धियाँ।

(२८) एकपूर्व का ज्ञान, (२९) आचार्य पद, (३०) द्वादशांगी ज्ञान।

पारिणामिक भाव भी दो प्रकार का है।

(१) सादि पारिणामिक भाव और (२) अनादि पारिणामिक भाव।

जो भाव पर्यायशील हो, वे सादि पारिणामिक भाव हैं, जैसे कि—कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि।

जो भाव नित्यस्वरूप हों, उपादान--उपादेय रूप हों, तत् स्वरूप हों, वे अनादि पारिणामिक भाव हैं। जैसे कि--अस्तित्व धर्म, गुणवत्त्व धर्म, प्रदेशवत्त्व धर्म, असंख्यात प्रदेशत्व धर्म, अरूपत्व धर्म आदि।

द्रव्य और भाव

पांचवाँ द्वार

द्रव्य से जीव द्रव्य शाश्वत हैं, अक्षय हैं, नित्य हैं और अनन्तानन्त हैं। भाव-दृष्टि से जीव द्रव्य अशाश्वत है, पर्यायशील है। विभिन्न गतियों में और विभिन्न अवस्थाओं में परिभ्रमण करते ही रहते हैं। अन्य द्रव्यों के संबध मे भी यही समझना चाहिए कि-'द्रव्यदृष्टि से सभी द्रव्य शाश्वत हैं,और भावदृष्टि से-पर्यायदृष्टि से-अशाश्वत हैं।'

प्रकारान्तर से द्रव्य और भाव का तात्पर्य इस प्रकार भी समझाया जाता है—

जैसे किसी एक भँवरे ने अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति अनुसार लकड़ी में छेद करना आरम्भ किया, छेद करने-करते उसमें 'क" जैसी आकृति बन गई, ऐसी घटना घटने पर उक्त रीति से निर्मित "क" भँवरे के लिये तो "द्रव्य क" है। परन्तु एक पढ़े लिखे विद्वान पुरुष के लिये वही "क" "भाव क" है। यही तात्पर्य सम्यक्त्व पर भी घटाया जा सकता है—

सम्यक्त्वरहित याने शुद्ध श्रद्धा से हीन मिथ्यात्वी का ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप केवल द्रव्यज्ञान, द्रव्यदर्शन, द्रव्य-चारित्र और द्रव्यतप ही है। जब कि जिनाज्ञानुसार श्रद्धाशील

पुरुष की प्रवृत्ति एकान्त निर्जरा रूप होती है, तदनुसार उसका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, भाव ज्ञान, भाव दर्शन, भाव चारित्र और भाव तप होता है।

कारण और कार्य

छट्ठा द्वार

कारण के होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है। कारण के अभाव में कार्य कदापि उत्पन्न नहीं हुआ करता है। भूख लगने पर ही भोजन की आवश्यकता अनुभव हुआ करती है। किसी भी द्वीप में जाने की भावना होने पर मार्ग मे यदि समुद्र पड़ता है, तो निश्चित ही जहाज की आवश्यकता होगी।

निश्चय और व्यवहार

सातवाँ द्वार

(१) निश्चय मे जीव-आत्मा सदा अमर है, परन्तु व्यवहार मे कहा जाता है कि जीव मर गया।

(२) निश्चय मे अग्नि के साथ लकड़ी, कन्डे आदि इन्धन वस्तुएँ जला करती है, परन्तु व्यवहार में बोला जाता है कि—

चूल्हा जलता है, अथवा दावानल के प्रज्वलित होने पर कहा जाता है कि पहाड़ जल रहा है।

(३) निश्चय मे आदमी ग्राम अथवा कूप के समीप पहुंचता है, परन्तु व्यवहार में बोला जाता है कि—ग्राम आ गया, कूप आ गया।

(४) निश्चय मे पानी टपकता है, परन्तु व्यवहार में कहा जाता है कि घर टपकता है, घर चूता है। इत्यादि रूप से एव विविध दृष्टान्तो से निश्चय और व्यवहार का स्वरूप समझ लेना चाहिये। छद्मस्थ के लिये व्यवहार पहले है और निश्चय पीछे है। केवलज्ञानी के लिये निश्चय पहले है और व्यवहार पीछे है।

अब निश्चय और व्यवहार के अनुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप के सबंध मे कुछ प्रकाश डाला जाता है।

(१) जीव के आन्तरिक प्रदेशों मे सम्यक्त्व पूर्वक नव तत्त्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान होना यही निश्चय ज्ञान है। जब कि आचारांग आदि सूत्रों का पठन-पाठन, मनन, सद्बोध, यह व्यावहारिक ज्ञान है।

(२) आन्तरिक रूप से जीव आदि तत्त्वों पर यथातथ्य रूप से श्रद्धा होना, आस्था होना, यही निश्चय-सम्यक्त्व हो किन्तु शंका आदि पाँच दोप रहित, एवं प्रभावना आदि आठ गुण रहित प्रवृत्ति करना, यह व्यावहारिक सम्यक्त्व दर्शन है।

(३) सम्यक्त्व पूर्वक अन्तःकरण की भावना के साथ अठारह पापों का परित्याग करना, यही निश्चय चारित्र है। किन्तु पांचों महाव्रतों का, पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन, यही व्यावहारिक चारित्र है।

(४) सम्यक्त्व पूर्वक, अठारह ही पापों का परित्याग करते हुए चारित्र-पालन में वीर्य-उत्साह के साथ याने पराक्रम-पूर्वक आत्मा का तल्लीन होना एवं पर-पदार्थों के प्रति ममता-भाव से रहित होना, यही निश्चय तप है और अनशन आदि बारह प्रकार के तप का निर्जरा के लिये पालन करना, वह व्यवहार तप है।

निश्चय मार्ग तो मुक्ति का दाता है और व्यवहार मार्ग मुक्ति का साधक है।

उपादान एवं निमित्त

आठवाँ द्वार

आदान-सामग्री मूल कारण रूप हुआ करती है, जो कि स्वयं कार्य के रूप में परिणित होती है; जो संयोग प्राप्त होते ही स्वयं कार्य का रूप धारण करे, कार्य का आकार बन जाय, वही उपादान है।

जो उपादान-सामग्री के लिये कार्य के रूप में परिणित होते समय सहायक हो, कार्य का रूप धारण कराने में सहायता प्रदान करे, वह निमित्त कहलाता है।

इस प्रकार कार्य का मूल कारण—जनक कारण तो उपादान तत्त्व हुआ करता है और सहायक कारण निमित्त तत्त्व हुआ करता है। इस सम्बन्धी सामान्य उदाहरण इस प्रकार है—

(१) उपादान मिला गाय का, निमित्त मिला दूहने वाले का, तब दूध प्राप्त हुआ।

(२) उपादान मिला दूध का, निमित्त मिला खटाई का, तब दही तैयार हुआ।

(३) उपादान मिला दही का, निमित्त मिला मंथनी का-रवाई रूप दंडे का-तब छाछ और मक्खन की प्राप्ति हुई।

(४) उपादान मिला मक्खन का, निमित्त मिला अग्नि का, तब घृत की उत्पत्ति हुई।

(५) उपादान मिला घृत का, निमित्त मिला खाने वाले का, तब शरीर में पुष्टता प्राप्त हुई।

(६) उपादान मिला माता का, निमित्त प्राप्त हुआ पिता का, तब पुत्रोत्पत्ति हुई।

(७) उपादान मिला ज्ञानी गुरु का, निमित्त मिला विनीत शिष्य का, तब ज्ञान का विकास हुआ।

(८) उपादान मिला आटे का, निमित्त मिला रसोइये का, तब रोटी की उत्पत्ति हुई।

ऐसे ही सभी पदार्थों की उत्पत्ति उपादान कारण और निमित्त कारण के संयोग से हुआ करती है।)
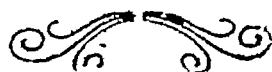
चार प्रमाण

नववाँ द्वार

जो ज्ञान अपना और अन्य पदार्थ का निस्संशय के साथ निश्चयपूर्वक स्वरूप समझावे, वही ज्ञान प्रमाण कहलाता है। वस्तु की वस्तुता को परिपूर्ण रीति से एवं दोषरहित पद्धति से समझाने वाला और उसकी सिद्धि करने वाला ज्ञान ही प्रमाण कहा जाता है। ऐसा प्रमाण मुख्य रूप से चार प्रकार का कहा गया है:—

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण, (२) अनुमान प्रमाण, (३) आगम प्रमाण और (४) उपमान प्रमाण।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—(१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष।

इन्द्रियाँ भी दो प्रकार की हैं:—

द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय।

पुनः द्रव्य इन्द्रिय के दो भेद हैं। निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येंद्रिय।

निर्वृत्ति द्रव्येंद्रिय भी पुनः दो प्रकार की कही गई है- आभ्यंतर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति।

उत्सेध अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शुद्ध आत्म-प्रदेशों का नेत्र आदि इन्द्रियों के आकार रूप में परिणित होकर रहना, ऐसी रचना विशेष को ही आभ्यंतर निर्वृत्ति कहते हैं।

(१५) संज्ञी पचेंद्रिय प्राणी की घ्राण इंद्रिय का विषय १२ योजन तक का है।

(१६) चार इंद्रिय वाले प्राणी की चक्षुइंद्रिय का विषय २६५४ धनुष्य तक का है।

(१७) असज्ञी पंचेंद्रिय प्राणी की चक्षुइंद्रिय का विषय ५६०८ धनुष्य तक का है।

(१८) संज्ञी पंचेंद्रिय प्राणी की चक्षुइंद्रिय का विषय ४७२६३ योजन तक का है।

(१९) असंज्ञी पंचेंद्रिय प्राणी की श्रोत्र इंद्रिय का विषय ८०० धनुष्य तक का है।

(२०) सज्ञी पंचेंद्रिय प्राणी की श्रोत इन्द्रिय का विषय १२ योजन तक का है।

मतिज्ञान-वर्णन

नो इंद्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—देश नो-इंद्रिय प्रत्यक्ष और सकल नो-इंद्रिय प्रत्यक्ष। देश नो-इंद्रिय प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—१ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान और ४ मनःपर्यायज्ञान। मतिज्ञान के ३३६ भेद कहे गये है। जिनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

चूंकि मतिज्ञान पाँचों इंद्रियों और मन की सहायता से हुआ करता है, अतः प्रत्येक इंद्रिय की दृष्टि से प्रारम्भ में मति ज्ञान छह प्रकार का हुआ, जैसे कि श्रोत्र इंद्रिय मतिज्ञान, चक्षु इन्द्रिय मतिज्ञान, घ्राण इन्द्रिय मतिज्ञान, रसना इन्द्रिय मतिज्ञान, स्पर्शना इन्द्रिय मतिज्ञान और मनजनित मतिज्ञान।

विषय की दृष्टि से भी दोनों में महान् अन्तर है। मतिज्ञान वर्तमानकालीन परिस्थितियों से अधिक सम्बन्ध रखता है, जबकि श्रुतज्ञान भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल के पदार्थों के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श कर सकता है। मतिज्ञान में भाषा-सबधी उपयोग अल्प होता है, जबकि श्रुतज्ञान का आधार ही भाषा की विपुलता है। साराश यह है कि इन्द्रियों का और मन का आधार लेते हुए भी जहाँ भाषा की उपयोगिता विपुल प्रमाण में हो, वहाँ तो श्रुतज्ञान है और जहाँ इंद्रियों का और मन का प्रयोग करते हुए भी भाषा का प्रयोग अतिस्वल्प मात्रा मे ही है, वहाँ मतिज्ञान की ही प्रधानता समझी जानी चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मतिज्ञान का विषय श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा से संकुचित है, परिमित है और काल से भी मर्यादित है। श्रुतज्ञान में मन का व्यापार अधिक और अति-स्पष्ट होता है। इसमें आगे पीछे का अनुसधान-परिसंधान रहता है। मतिज्ञान पूर्व अश रूप है, और श्रुतज्ञान उसीका परिपूर्ण और स्पष्ट अश रूप है। तीनों कालों से सम्बंध रखते हुए, प्रत्येक पदार्थ की एक से अधिक पर्यायों को विषय करते हुए, स्पष्ट रीति से जिस ज्ञान का भाषा द्वारा उल्लेख किया जा सके, वह तो श्रुतज्ञान है, और इससे हीन कोटि वाला मतिज्ञान है। उदाहरण तौर पर कहा जा सकता है कि मतिज्ञान को यदि दूध कहा जाय तो श्रुतज्ञान खीर समान है।

विषय-वर्ग की दृष्टि से श्रुतज्ञान के दो भेद, बारह भेद, चौदह भेद और अनेक भेद किये जा सकते हैं, किन्तु यहाँ पर केवल चौदह भेदों का ही बयान किया जाता है। उनके मूल नाम इस प्रकार हैं—

(१) अक्षरश्रुत, (२) अनक्षरश्रुत, (३) संज्ञीश्रुत, (४) असंज्ञीश्रुत, (५) सम्यक् श्रुत, (६) मिथ्याश्रुत, (७) सादिश्रुत, (८) अनादिश्रुत, (९) सपर्यवसितश्रुत, (१०) अपर्यवसितश्रुत, (११) गमिकश्रुत, (१२) अगमिकश्रुत, (१३) अङ्गप्रविष्टश्रुत और (१४) अङ्गबाह्यश्रुत ।

इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

(१) अक्षर के तीन भेद हैं—(१) संज्ञाअक्षर, (२) व्यञ्जन-अक्षर और (३) लब्धिअक्षर ।

(अ) अलग अलग रूप से संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, तामिल, तेलगु, आदि लिपियाँ, जो कि लिखने के काम में आती हैं, ये तो संज्ञा अक्षर हैं ।

(ब) अकार से लेकर हकार तक के अक्षर, जो ध्वनिरूप हैं और जिनका उपयोग बोलने के समय में किया जाता है, जिनका उच्चारण किया जाता है, वे व्यञ्जन-अक्षर हैं ।

(स) संज्ञा-अक्षर और व्यञ्जन-अक्षर द्रव्यश्रुत के अन्तर्गत है । इन्हीं द्रव्यश्रुत रूप अक्षरों के आधार से, इनके सुनने से और इनकी आकृति को देखने से तात्पर्य का बोध होने के साथ साथ जो अक्षरों का ज्ञान होता है, वही लब्धि-अक्षर श्रुतज्ञान है ।

(२) अक्षरों का बिना उच्चारण किये ही, छींकने से, चुटकी बजाने से, सिर हिलाने से, खांसी से, हाथ-पैर के संकेत से, आदि सांकेतिक तरीकों से दूसरों का अभिप्राय जान लेना, यही अनक्षरश्रुत है ।

(३) विचार करना, निर्णय करना, समुच्चय अर्थ करना, विशेष अर्थ करना, चिन्तन करना और निश्चय करना, ये छह बोल संज्ञी जीव में पाये जाते हैं, इसी प्रकार संज्ञी जीव का श्रुत-ज्ञान, संज्ञी श्रुत है। जिनके संज्ञा होती है, वे जीव संज्ञी कहलाते । ज्ञान-शक्ति की दृष्टि से संज्ञा के तीन भेद हैं।

(१) दीर्घकालिकी संज्ञा (२) हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा और (३) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा। इनका सामान्य परिचय इस प्रकार है।

(१) मैं अमुक काम कर चुका हूं, अमुक काम करूंगा, और अमुक काम कर रहा हूँ, इस प्रकार भूत काल, वर्तमान काल और आगामी काल का ज्ञान जिससे होता है, वह दीर्घ कालिकी संज्ञा है। संज्ञी श्रुत में जो संज्ञी लिये जाते हैं, वे दीर्घ कालिकी संज्ञा वाले हैं। यह संज्ञा देव, नारक और गर्भज मनुष्य तथा गर्भज तिर्यञ्च जीवों को होती है।

(२) अपने शरीर के जीवन-निर्वाह के लिये प्रिय एवं अनुकूल वस्तु में प्रवृत्ति के लिये तथा अप्रिय और प्रतिकूल वस्तु में निवृत्ति के लिये उपयोगी, केवल वर्तमानकालीन ज्ञान जिससे होता है, वह संज्ञा हेतुवादोपदेशिकी है। ऐसी संज्ञा केवल दो इन्द्रिय वाले आदि असंज्ञी जीवों को होती है।

(३) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा केवल चौदह पूर्व धारी महात्मा को ही हुआ करती है।

(४) उपरोक्त छह बोलों से रहित, भावार्थ के विचार से शून्य, पूर्वापर आलोचनाओं से रहित, इस तरीके से पढना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, यही असंज्ञी श्रुत है।

अथवा

जिन जीवों के मन नामक शक्ति नहीं है, वे असंज्ञी हैं और उनका श्रुतज्ञान असंज्ञी श्रुत है।

(५) इच्छानुसार कल्पित एवं इच्छानुसार रचित ग्रन्थ जिनमें हिंसा आदि पाँचों आश्रव की वृद्धि का उल्लेख हो, ऐसे ज्योतिष, निमित्त, वैद्यक, वेद, काम शास्त्र आदि ग्रन्थ, मिथ्याश्रुत हैं।

अथवा

मिथ्यादृष्टि जीवों का श्रुतज्ञान मिथ्याश्रुत है।

(६) अरिहंत प्रभु के प्ररूपित, गणधर महाराज के संग्रंथित, तथा पूर्वधारी आचार्य महाराजाओं द्वारा रचित सूत्र-ग्रंथ सम्यक् श्रुत है।

अथवा

सम्यक् दृष्टि जीवों का श्रुतज्ञान सम्यक् श्रुत है।

(७) एक आत्मा अथवा एक जीव के आश्रय से श्रुतज्ञान सम्बन्धी विवेचनप्रणाली सादि श्रुत है।

(८) अनन्त, अथवा संख्यात, या असंख्यात जीवों के आश्रय से श्रुतज्ञान सम्बन्धी विवेचनप्रणाली अनादिश्रुत है।

(९) दृष्टि-विशेष की अपेक्षा से जो श्रुतज्ञान अन्तसहित याने मर्यादित, समाप्तिरूप मान लिया जाय, वह सपर्यवसित श्रुत है।

(१०) दृष्टि-विशेष की अपेक्षा से, जो श्रुतज्ञान अन्तरहित, याने अमर्यादित, समाप्तिरूप नहीं माना जाय, वह अपर्यवसित-श्रुत है।

(११) जिनमें एक सरीखे पाठ हों, वह गमिकश्रुत है। जैसे दृष्टिवाद अंग।

(१२) जिनमें एक सरीखे पाठ नहीं हों, वह अगमिकश्रुत है। जैसे—कालिक सूत्र।

(१३) श्री जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित आचारांग आदि बारह अंगों का ज्ञान ही अंगप्रविष्ट श्रुत है।

(१४) बारह अंगों से भिन्न, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आदि का ज्ञान अंगबाह्य श्रुत है।

अंगबाह्यश्रुत के दो भेद हैं—(१) सामायिक आदि छह आवश्यक, यही आवश्यक अंग बाह्यश्रुत है और (२) आवश्यक व्यतिरिक्त, यह भी दो प्रकार का है—कालिक सूत्र और उत्कालिक सूत्र। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सहचारी धर्म वाले हैं। कोई भी ससारी जीव, चाहे वह सम्यक् दृष्टि हो अथवा मिथ्यादृष्टि, ये दोनों अल्पाधिक मात्रा में उसमें अवश्य पायें जायेंगे। यदि वह जीव मिथ्यात्वी हुआ तो ये दोनों उपयोग मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान रूप होंगे और यदि वह जीव सम्यक्त्वी हुआ तो ये दोनों उपयोग मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप होंगे। सम्यक् दृष्टि का ज्ञान सम्यक् रूप होता है और मिथ्यादृष्टि का अज्ञान रूप होता है।

उत्कृष्ट मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के धारक सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की बातें जान सकते हैं, परन्तु देख नहीं सकते हैं। इसीलिये वे श्रुतकेवली कहे जाते हैं। जाति स्मरण ज्ञान भी मतिज्ञान का ही एक भेद है। यदि लगातार बिना व्यवधान के ६०० भव संज्ञी रूप मे किये हों तो, जाति स्मरण

ज्ञान द्वारा उनकी स्मृति उत्पन्न हो सकती है, वे स्पष्ट रूप से जाने जा सकते हैं।

सादिश्रुत, अनादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत, अपर्यवसितश्रुत ये प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार २ प्रकार के होते हैं। जैसे द्रव्य को लेकर एक जीव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि सपर्यवसित है, तात्पर्य यह है कि जब जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ तब साथ २ में श्रुतज्ञान भी हुआ और जब वह सम्यक्त्व का परित्याग करता है, उस समय में अथवा उसे केवल ज्ञान उत्पन्न होता है तब श्रुतज्ञान का अन्त हो जाता है, इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि सान्त है।

सब जीवों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि अनन्त है, क्योंकि 'संसार में पहले पहल अमुक जीव को श्रुतज्ञान हुआ अथवा अमुक जीव के मुक्त होने से श्रुतज्ञान का अन्त हो जायगा' ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अतएव प्रवाह रूप से सब जीवों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि अनन्त है।

श्रोता की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि सान्त और अनादि अनन्त है। जब भरतक्षेत्र तथा ऐरावतक्षेत्र में तीर्थ की स्थापना होती है, तब से द्वादशाङ्गी रूप श्रुतज्ञान भी आदि होती है और जब तीर्थ का विच्छेद होता है, उस समय में श्रुतज्ञान का भी अन्त हो जाया करता है, इस प्रकार श्रुतज्ञान सादि सान्त हुआ, महाविदेह क्षेत्र में तीर्थ का कभी भी विच्छेद नहीं होता है, इसलिये वहाँ पर श्रुतज्ञान अनादि अनन्त है।

काल की अपेक्षा से भी श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि अनन्त है। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान

सादि सान्त है, क्योंकि तीसरे आरे के अंत में और चौथे तथा पाँचवें आरे में तो श्रुतज्ञान का अस्तित्व रहता है और छट्ठे आरे में तीर्थ के विनाश के साथ साथ यह भी नष्ट हो जाया करता है।

नो-उत्सर्पिणी और नो-अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि अनन्त हैं। महाविदेह क्षेत्रमें नो-उत्सर्पिणी और नो-अवसर्पिणी काल होता है, वहाँ पर काल-चक्र जैसी व्यवस्था उपलब्ध नहीं है, अतएव उस दृष्टिकोण से श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि अनत है।

भव्य जीव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि- सान्त है तथा अभव्य जीव की अपेक्षा से कुश्रुत अनादि अनन्त है। सपर्यवसित शब्द का अर्थ सान्त होता है और अपर्यवसित शब्द का अनन्त होता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान का यह संक्षिप्त विवेचन हुआ है।

अवधिज्ञान

अवधिज्ञान मन और इन्द्रियों की शक्ति से उत्पन्न नहीं होकर विशुद्ध रूप से आत्मा की शक्ति द्वारा ही उत्पन्न हुआ करता है। इसका विषय-क्षेत्र रूपी पुद्गलों तक ही है। इसका सामान्य विवेचन अब आठ द्वारों के रूप मे इस प्रकार है—

(१) भेद द्वार—अवधिज्ञान मुख्य रूप से और अधिकारी के भेद से दो प्रकार का है, (अ) भवप्रत्यय और (२) गुणप्रत्यय।

(अ) जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट हो जाया करता है और जिसकी उत्पत्ति के लिये व्रत, नियम, आदि क्रियाओं की आवश्यकता नहीं हुआ करती है, वह जन्मसिद्ध अवधिज्ञान

भवप्रत्यय कहलाता है। देवगति और नरकगति में देवताओं को और नारक जीवों को तथा तीर्थङ्करों को उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान इसी कोटि का होता है।

(ब) जो अवधिज्ञान जन्मसिद्ध नहीं होता है, किन्तु जन्म लेने के बाद व्रत, नियम आदि गुणों सम्बन्धी सत्-क्रियाओं की जिसके लिये आवश्यकता हुआ करती है, तथा जिसमें अवधिज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम की आवश्यकता होती है, वह अवधिज्ञान गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। मनुष्य और तिर्यञ्च को जो अवधिज्ञान होता है, वह इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। इसीका दूसरा नाम क्षयोपशम-प्रत्यय अवधिज्ञान भी है।

(२) विषयद्वार—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से इनकी विषय-मर्यादा इस प्रकार है—

(१) सातवीं नरक वाले जीव जघन्य आधा कोस तक और उत्कृष्ट एक कोस तक देख सकते हैं।

(२) छट्ठी नरक वाले जीव जघन्य एक कोस तक और उत्कृष्ट डेढ़ कोस तक देख सकते हैं।

(३) पाँचवी नरक वाले जीव जघन्य डेढ़ कोस तक और उत्कृष्ट दो कोस तक देख सकते हैं।

(४) चौथी नरक वाले जीव जघन्य दो कोस तक और उत्कृष्ट ढाई कोस तक देख सकते हैं।

(५) तीसरी नरक वाले जीव जघन्य ढाई कोस तक और उत्कृष्ट तीन कोस तक देख सकते हैं।

(६) दूसरी नरक वाले जीव जघन्य तीन कोस तक और उत्कृष्ट साढ़े तीन कोस तक देख सकते हैं।

(७) पहली नरक वाले जीव जघन्य साढ़े तीन कोस तक और उत्कृष्ट चार कोस तक देख सकते हैं।

नरक के जीवों को नारकीय क्षेत्र की घोर पीड़ा का अनुभव करने से एवं परमाधामी देवताओं द्वारा पूर्व भव का वृत्तान्त बतलाने से जाति स्मरण ज्ञान की उत्पत्ति हो जाया करती है, जिससे वे पूर्वभवो की घटनाओं को जान सकते हैं।

(८) असुरकुमार देव जघन्य २५ योजन तक और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप समुद्रों तक देख सकते हैं। नवनिकाय के देव और वाणव्यंतर देव जघन्य २५ योजन तक उत्कृष्ट संख्यात द्वीप समुद्रों तक देखते हैं।

(९) ज्योतिषी देव जघन्य रूप से और उत्कृष्ट रूप से सख्यात द्वीप समुद्रों तक को देख लिया करते हैं।

(१०) वैमानिक देव ऊपर तो अपने अपने देवलोक की ध्वजा-पताका तक देखते हैं और लम्बाई चौडाई के लिहाज से प्रथम, द्वितीय देवलोक के पल्योपम आयुष्य वाले देवता संख्यात द्वीप समुद्रो तक देख सकते हैं।

(११) सागरोपम की आयुष्य वाले देवता असंख्यात द्वीप समुद्रों को देख सकते है।

(१२) नीचे के क्षेत्र की दृष्टि से प्रथम और द्वितीय देवलोक के देवता पहली नरक तक देखते हैं।

(१३) तीसरे चौथे देवलोक के देवता दूसरी नरक तक देखते हैं।

(१४) पाँचवें छट्ठे देवलोक के देवता तीसरी नरक तक देखते हैं।

(१५) सातवें आठवें देवलोक के देवता चौथी नरक तक देखते हैं।

(१६) नववें, दशवें, ग्यारह और बाहरवें देवलोक के देवता पाँचवीं नरक तक देखते हैं।

(१७) नव ग्रैवेयक विमान के देवता छठी नरक तक देखते हैं।

(१८) चार अनुत्तर विमान वाले देवता सातवीं नरक तक देखते हैं।

(१९) सर्वार्थ सिद्ध विमान के देवता लोकनाल के सब से नीचे के अंतिम छोर तक अति अल्प भाग को छोड़ते हुए देख सकते हैं।

(२०) तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीव जघन्य रूप से अंगुल के संख्यातवें भाग से लगाकर उत्कृष्ट रूप से असंख्यात द्वीप समुद्रों तक देख सकते हैं।

(२१) मनुष्य जघन्य रूप से अंगुल के असंख्यातवें भाग से लगाकर उत्कृष्ट रूप से सम्पूर्ण लोक और अलोक मे लोक जैसे असख्यात खडो तक देख सकते हैं।

चूंकि अवधिज्ञान की विषयशक्ति रूपी पुद्गलों तक ही परिमित है और चूंकि अलोक क्षेत्र में रूपी पुद्गलों जैसी कोई

वस्तु नहीं है, फिर भी उपर जो अलोक-क्षेत्र में देखने की शक्ति कही गई है, वह केवल अवधिज्ञान की शक्ति-मर्यादा को समझाने के लिये बतलाया गया है।

अवधिज्ञान की काल-मर्यादा का विवेचन इस प्रकार है—

(१) जो अवधिज्ञानी क्षेत्र की अपेक्षा से अंगुल के असंख्यातवें भाग समान क्षेत्र को देखता है, वह काल की अपेक्षा से आवलिका के असंख्यातवें भाग रूप काल की बात जान सकता है।

(२) जो अवधिज्ञानी क्षेत्र की अपेक्षा से अंगुल के संख्यातवें भाग समान क्षेत्र को देखता है वह काल की अपेक्षा से आवलिका के संख्यातवें भाग रूप काल की बात जान सकता है।

(३) जो अवधिज्ञानी क्षेत्र की अपेक्षा से एक अगुल जितने क्षेत्र तक देख सकता है, वह काल की अपेक्षा से एक आवलिका में कुछ कम समय तक की बात जान सकता है।

(४) जो प्रत्येक अगुल क्षेत्र तक देखता है, वह पूरी आवलिका की बात जान सकता है।

(५) जो एक हाथ तक के क्षेत्र को देखता है, वह अन्तमुहूर्त्त तक की बात जान सकता है।

(६) जो एक धनुष्य तक के क्षेत्र को देखता है, वह प्रत्येक मुहूर्त्त तक की बात जान सकता है।

(७) जो एक कोस तक के क्षेत्र को देखता है, वह एक दिन की बात जान सकता है।

(८) जो एक योजन-प्रमाण क्षेत्र को देखता है, वह प्रत्येक दिन की बात जान सकता है।

(६) जो पच्चीस योजन-प्रमाण क्षेत्र तक देख सकता है, वह एक पक्ष मे कुछ कम समय तक की बात जान सकता है।

(१०) जो भरत क्षेत्र जितने क्षेत्रफल को देख सकता है, वह पूर्ण पक्ष जितने समय तक की बात जान सकता है।

(११) जो जम्बूद्वीप पर्यंत जितने क्षेत्र फल को देखता है, वह एक महिने जितने समय तक की बात जान सकता है।

(१२) जो ढाई द्वीप पर्यंत जितने क्षेत्रफल को देखता है, वह एक वर्ष जितने समय तक की बात जान सकता है।

(१३) जो तेरहवें रूचक द्वीप पर्यंत जितने क्षेत्रफल को देखता है, वह प्रत्येक वर्ष जितने समय तक की बात जान सकता है।

(१४) जो सख्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त जितने क्षेत्रफल को देखता है, वह संख्यात काल तक की बात जान सकता है।

(१५) जो असंख्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त जितने क्षेत्रफल को देखता है, वह असंख्यात काल तक की बात जान सकता है।

(१६) जो भव्य आत्मा परम अवधिज्ञान का धारक हो तो अन्तर्मुहूर्त्त में ही वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और तदनुसार सम्पूर्ण लोकालोक की एवं अनन्तानंत काल तक की सभी बातों को जानने की शक्ति उनमें उत्पन्न हो जाती है। इनके लिये न तो काल-मर्यादा है और न क्षेत्र-मर्यादा ही।

३—संठाण—(संस्थान) द्वार

अवधिज्ञानी का ज्ञान आकृति के लिहाज से किस प्रकार अपना कार्य करता है, उसका सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(१) नरक के जीव अपने अवधिज्ञान द्वारा त्रिपाई की आकृति-अनुसार अनुभव करते हैं।

(२) भवनपति देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा पाले (टब) की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(३) वाण-व्यंतर देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा पडह (ढोल) की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(४) ज्योतिष्क देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा झालर की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(५) बारह देवलोक के देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा मृदंग की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(६) नवग्रैवेयक देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा फूल की चंगेरी की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(७) पाँच अनुत्तर विमान के देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा अविवाहित कन्या के स्तन की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(८) मनुष्य और तिर्यञ्चगति के प्राणी अपने अवधिज्ञान द्वारा जाली की आकृति अनुसार विविध ढंग से अनुभव करते हैं।

४—बाह्य आभ्यंतर द्वार

नारक जीवों और देवों का अवधिज्ञान आभ्यंतर रूप होता है, तिर्यञ्च प्राणियों का अवधिज्ञान बाह्य रूप होता है और मनुष्यों का अवधिज्ञान बाह्य एवं आभ्यंतर दोनों प्रकार का होता है।

५—अनुगामी-अननुगामी द्वार

नारक एवं देवो के अनुगामी अवधिज्ञान होता है, जब कि तिर्यञ्च और मनुष्यों के अनुगामी तथा अननुगामी दोनों प्रकार का अवधिज्ञान होता है।

६—देशप्रत्यय-सकलप्रत्यय द्वार

नारक, देव, और तिर्यञ्च जीवों का अवधिज्ञान देश-प्रत्यय रूप से होता है, जब कि मनुष्य प्राणियों का अवधिज्ञान देश-प्रत्यय और सकल प्रत्यय रूप, दोनों प्रकार से होता है।

७—हीयमान-वर्द्धमान-अवस्थित द्वार

नारक देवों का और अवधिज्ञान अवस्थित रूप होता है, जब कि मनुष्य और तिर्यञ्च में से किसी का अवधिज्ञान तो हीयमान होता है, किसी का वर्द्धमान होता है, और किसी २ का अवस्थित रूप होता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य और तिर्यञ्च जाति के जीवों में तीनों प्रकार का अवधिज्ञान पाया जाता है।

८—प्रतिपाति—अप्रतिपाति द्वार

नारक और देवों का अवधिज्ञान तो अप्रतिपाति रूप होता है, जब कि मनुष्य तिर्यञ्च प्राणियों का अवधिज्ञान प्रति-

पाति रूप भी होता है और अप्रतिपाति रूप भी होता है, याने दोनों प्रकार का अवधिज्ञान इन दोनो गतियों में (मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों में) पाया जाता है। उपरोक्त विवेचन की सामान्य मीमांसा इस प्रकार है कि अवधिज्ञान अपने गुण-पर्यायों के लिहाज से छह प्रकार का कहा गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) अनुगामि, (२) अननुगामि, (३) वर्द्धमान, (४) हीयमान, (५) प्रतिपाति और (६) अप्रतिपाति।

(१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने पर भी जो अवधिज्ञान शरीर के समान साथ साथ ही रहे, वह अनुगामि अवधिज्ञान है। स्पष्टार्थ यह है कि जिस स्थान पर जिस जीव को यह अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और तदनुसार वह आत्मा उस स्थान से सख्यात अथवा असख्यात योजन तक के क्षेत्रों को चारों ओर से जैसा देखता है, जानता है, उसी प्रकार से अन्य स्थान पर चले जाने पर भी उसी ढंग से उतने ही क्षेत्रों तक देखते रहना और जानते रहना, यही इस कोटि के अवधिज्ञान का धर्म है।

(२) यह अवधिज्ञान उपरोक्त अवधिज्ञान से सर्वथा विपरीत धर्म वाला है। जिस क्षेत्र में रहते हुए जिस प्राणी को यह उत्पन्न होता है, वह प्राणी यदि उसी क्षेत्र में रहता हो और जितने समय तक रहे उतने ही समय तक और उसी क्षेत्र में यह अवधिज्ञान अपना कार्य करता है, जब कि उस क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्र में चले जाने पर यह अवधिज्ञान निरर्थक-सा और कार्य शक्ति से रहित-सा हो जाता है। सारांश इतना ही है कि जिस जगह अवधिज्ञान प्रकट हुआ हो, वहाँ से उत्पन्न जाने पर

यह ज्ञान नहीं रहता है। यह ज्ञानी का अनुकरण नहीं करता है, अतएव इसका नाम 'यथा नाम तथा गुण' अनुसार 'अननुगामि' अवधिज्ञान है।

(३) जो अवधिज्ञान, परिणामों की विशुद्धता के कारण से भावों की विशुद्धि के साथ साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा पूर्वक दिन प्रतिदिन बढ़ता जाय, वह 'वर्द्धमान' अवधिज्ञान है। जैसे आग की चिनगारी ज्यों-ज्यों सूखा ईंधन मिलता जाता है त्यों-त्यो बढ़ती जाती है, वैसे ही यह अवधिज्ञान ही भावों की विशुद्धि के साथ साथ बढ़ता रहता है।

(४) जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद भावनाओं की अशुद्धि के कारण से दिन प्रति दिन घटता ही चला जाय, क्रमशः अल्प २ विषय वाला होता जाय वह 'हीयमान' अवधिज्ञान है। जैसे कि विपुल मात्रा में प्रज्वलित अग्नि इंधन के अभाव में क्रमशः बुझती २ सर्वथा विलुप्त हो जाया करती है।

(५) जैसे फूंक के आघात से दीपक तत्काल बुझ जाता है, वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद अचानक ही—एकदम ही—लुप्त हो जाय, उसे 'प्रतिपाती' अवधिज्ञान कहते हैं।

(६) जो अवधिज्ञान अपनी स्थिति की दृष्टि से उत्कृष्ट रूप होता है, केवलज्ञान की उत्पत्ति के अन्तमुहूर्त्त पहले जो उत्पन्न हुआ करता है, और तत्पश्चात् जो केवलज्ञान में समावि हो जाने वाला होता है, एवं जो उत्पन्न होकर लुप्त धर्म वाला नहीं होता है, वही 'अप्रतिपाति' अवधिज्ञान है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अवधिज्ञान की शक्ति इस प्रकार है:—

(१) अवधिज्ञानी कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यो को जानते हैं और देखते हैं। और अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपी द्रव्यों को देखते हैं एव जानते हैं।

(२) क्षेत्र की दृष्टि से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यों को जानते हैं और देखते हैं। इसी प्रकार उत्कृष्ट रूप से सम्पूर्ण लोक क्षेत्र को एवं अलोक में लोक प्रमाण असंख्य खण्डों जितने क्षेत्रों को देख सकते हैं, जान सकते हैं। अलोक में दर्शनीय और ज्ञेय जैसे द्रव्यों की कोई उपलब्धि नहीं है, परन्तु फिर भी अवधिज्ञान की शक्ति को समझाने के लिये यह काल्पनिक कल्पना की जाती है।

(३) काल की दृष्टि से आवलिका के असंख्यातवें भाग से लगा कर अधिक से अधिक असख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण, वर्तमान, भूत और भविष्य काल के रूपी पदार्थों को यह ज्ञान जान सकता है तथा देख सकता है।

(४) भाव की दृष्टि से अवधिज्ञानी रूपी द्रव्यों की अनतानन्त पर्यायों को जान सकते हैं, देख सकते हैं। 'अनन्त' के भी अनन्त भेद कहे गये हैं, इसलिये जघन्य अनन्त और उत्कृष्ट अनन्त में महान् अन्तर रहा हुआ है, यह नहीं भूलना चाहिये। मिथ्यादृष्टि वाले जीव का अवधिज्ञान 'विभगज्ञान' कहलाता है। इस प्रकार अवधिज्ञान का यह सामान्य और संक्षिप्त परिचय हुआ।

मनःपर्यायज्ञान—विवेचन

मनःपर्याय ज्ञानावरण कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर, आत्मा की शक्ति के आधार से ही, बिना इन्द्रियों और

मन की सहायता लिये ही, संज्ञी पंचेंद्रिय जीवों के मन की याने अन्तःकरण की बात को और विचार-धारा को जान लेने वाला ज्ञान मनःपर्यायज्ञान कहलाता है।

इसके केवल दो भेद हैं—(१) ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान और (२) विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान।

ऋजुमति विषय को सामान्य रूप से जानता है, जब कि विपुलमति उसीको विशेष रूप से जानता है। प्रथम संक्षेप से जानता है और द्वितीय विस्तार से। प्रथम विशुद्ध और सूक्ष्म है, तो दूसरा उससे अधिक विशुद्धतर है और सूक्ष्मतर है। एक स्पष्ट है तो दूसरा स्पष्टतर है। इन दोनों में उल्लेखनीय अन्तर यह भी है कि ऋजुमति उत्पन्न हो जाने के बाद नष्ट भी हो जाया करता है, जब कि विपुलमति उत्पन्न होने के बाद केवल ज्ञान की प्राप्ति तक बराबर ठहरता है, अतएव यह कर्मों के क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है, जब कि ऋजुमति क्षयोपशम होने पर भी उत्पन्न हो जाया करता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से इसकी स्थिति इस प्रकार है—

द्रव्य से—ऋजुमति मनो वर्गणा के अनन्त प्रदेश वाले अनन्त स्कन्धों को देखता है और विपुलमति इसकी अपेक्षा अधिक प्रदेशो वाले स्कन्धों को अधिक स्पष्टता से देखता है।

क्षेत्र से—तिरछी दिशा में ऋजुमति तो ढाई अंगुल कम ढाई द्वीप तक और विपुल मति पूरे ढाई द्वीप तक अनुभव करते हैं। ऊर्ध्व दिशा में दोनों ज्योतिश्चक्र के ऊपर के तल तक और

नीची दिशा में एक हजार योजन तक संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को अनुभव करते हैं।

काल से—ऋजुमति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने तीनों काल के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का अनुभव कर सकता है, और विपुल मति इसकी अपेक्षा से कुछ अधिक काल के मनोगत भावों का एवं मन द्वारा चिन्तित पदार्थों का अनुभव कर सकता है।

भाव से—ऋजुमति मनोगत द्रव्य के असंख्यात पर्यायों का अनुभव करता है और विपुलमति इसकी अपेक्षा से कुछ अधिक पर्यायों का अनुभव करता है। प्रथम संक्षेप से जानता है, जब कि दूसरा विस्तार से। जैसे किसी ऋजुमति वाले ज्ञानी ने दूसरे प्राणी द्वारा चिन्तन करते हुए घड़े को जाना, तो इसमें विशेषताओं से रहित केवल घड़े का ही ज्ञान हुआ। किन्तु विपुलमति वाला इस स्थिति को विस्तारपूर्वक समझेगा, जैसे कि वह घड़ा धातु का है अथवा मिट्टी का ? धातु का है तो क्या वह पीतल का है या तांबे का ? क्षेत्र के विचार से क्या वह पाटलीपुत्र में निर्मित हुआ है अथवा राजगृही में ? काल के विचार से वह शीत काल में बनाया गया था अथवा उष्णकाल में ? भाव के विचार से वह घी का धारण करने वाला होगा अथवा दूध या दही का ? इस प्रकार निश्चय रूप वाला और स्पष्ट रूप वाला विपुलमति मन.पर्याय ज्ञान हुआ करता है।

जिन पवित्र आत्माओं में निम्नोक्त गुण हुआ करते हैं, उन में से भी किसी २ को ही यह ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है।

(१) मनुष्य गति, (२) संज्ञा-मनः शक्ति, (३) कर्म-भूमि में उत्पत्ति, (४) संख्यात वर्षों की आयु, (५) पर्याप्त-छह ही पर्याप्तियों की परिपूर्णता (६) सम्यक्-दृष्टि, (७) संयम-चारित्र का पालक, (८) अप्रमाद धर्म वाला, (९) और लब्धि गुणों से सहित।

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान का पारस्परिक अन्तर इस प्रकार है :—

(१) विशुद्धि की दृष्टि से—मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा से अपने विषय को बहुत ही स्पष्ट एवं विस्तृत रूप से जानता है, इस लिये उससे विशुद्धतर होता है।

(२) स्वामी की दृष्टि से—अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को उत्पन्न हो सकता है, जब कि मनःपर्यायज्ञान केवल मनुष्य गति के जीवों को ही होता है, इनमें भी संयमी को ही और संयमी में भी सबको नहीं होकर किसी २ अप्रमादी संयमी को ही हुआ करता है।

(३) क्षेत्र की दृष्टि से—अवधिज्ञान जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग से लगा कर उत्कृष्ट सम्पूर्ण लोक एवं अलोक मे अनेक लोक जितने क्षेत्र तक की बात जानने की शक्ति रखता है, जब कि मनःपर्याय ज्ञान केवल ढ़ाई द्वीप तक ही जानने की शक्ति रखता है।

(४) विषय की दृष्टि से—अवधिज्ञान भी जिस सूक्ष्म द्रव्य-पर्याय को नहीं जान सकता है, ऐसी २ सूक्ष्म द्रव्य-पर्यायों को मनःपर्याय ज्ञान जान सकता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह प्रमाणित है कि मनः-पर्याय ज्ञान अवधिज्ञान से श्रेष्ठ है, विशुद्ध है, उच्च है और महत्वपूर्ण है।

केवलज्ञान

इसे सकल नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण भी कहते हैं। इसके भेद-प्रभेद आदि कुछ नहीं होते हैं। यह अपने आप में परिपूर्ण, एक, अखंड और सर्वशक्ति सम्पन्न होता है। सम्पूर्ण द्रव्यों को और उनके तीनो कालवर्ती सम्पूर्ण पर्यायों को यह ज्ञान एक ही समय में जान लेता है। तीनों काल का कोई भी परिवर्तन इससे छिपा नहीं रहता है। इसकी प्राप्ति होते ही आत्मा अरिहन्त और सर्वशक्ति संपन्न परमात्मा रूप हो जाती है, सर्वथा ज्ञानरूप और ज्ञानमय हो जाती है, इसीलिये इस का नाम 'केवलज्ञान' रक्खा गया है। यह कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर एव सभी प्रकार के आवरणों के नष्ट होने पर ही उत्पन्न हुआ करता है। इस तरह से केवलज्ञान वह ज्ञान है जो कि—'मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शना-वरणीय और अन्तराय नामक घनघाती कर्मों के सर्वथा जड़ मूल से आत्यतिक क्षय होने पर उत्पन्न हुआ करता है और जो तीनों लोक और तीनों कालों की सभी बातों को, सभी द्रव्यों को और उनकी सभी पर्यायों को हस्तरेखा के समान स्पष्ट और संदेह से रहित रूप में जानने की परिपूर्ण आत्म-शक्ति रखता है, ऐसा ज्ञान केवलज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान निम्न गुणों वाले महापुरुषों में ही उत्पन्न हुआ करता है—

(१) मनुष्यगति, (२) सज्ञी अवस्था, (३) कर्म-भूमि में उत्पन्न, (४) संख्यात आयुशीलता, (५) पर्याप्त याने छह पर्याप्ति-

शीलता, (६) सम्यक् दृष्टि, (७) संयमशील याने यथाख्यात चारित्रशीलता, (८) अप्रमाद-अवस्था, (९) लब्धियुक्तता, (१०) निर्वेद-अवस्था, (११) अकषायशीलता, (१२) वीतराग-दशा-सम्पन्नता, (१३) तेरहवें गुणस्थान की स्थितिशीलता। इन तेरह बातों के होने पर ही केवलज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है। सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल, सब भाव और सब भव को एक साथ जान लेना इसका धर्म है। यह ज्ञान अप्रतिपाति होता है, उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाला नहीं होता है। आयु की समाप्ति के पश्चात् निश्चित रूप से मोक्ष का प्रदायक होता है। यही सर्वोत्तम और सर्व-उत्कृष्ट ज्ञान है। इससे ऊँचे दर्जे का और कोई ज्ञान नहीं है। संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ अथवा किसी भी पदार्थ की कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है, जो कि इसके द्वारा अज्ञेय रह जाती हो। इसके कुछ विशेषण इस प्रकार हैं—

(१) केवल, (२) परिपूर्ण (३) समग्र (४) असाधारण, (५) निरपेक्ष (६) विशुद्ध (७) सर्वभावज्ञापक, (८) लोकालोक-विषयक, (९) अनन्त पर्यायज्ञापक। यह क्षेमरूप है और अनुत्तर है। इसका वर्णन करने में सभी असमर्थ हैं, भाषा भी शक्ति-रहित है। केवलज्ञान सादि रूप होता हुआ भी अनन्त रूप है। केवलज्ञान ही आत्मा का मूल और वास्तविक स्वरूप है।

अनुमान–प्रमाण

अनुमान प्रमाण के ३ भेद हैं–(१) 'पुव्वं' (२) 'सेसव' और (३) 'दिट्ठिसामं'।

(१) भूत काल में अनुभव की हुई बातों के आधार से स्मृति आने पर किसी भी पदार्थ को जानना, पहिचानना और

अनुभव करना 'पुव्वं' अनुमान है। जैसे—किसी माता का पुत्र बाल-अवस्था में ही विदेश चला गया, और दीर्घकाल के बाद युवावस्था वाला होने पर घर आया, उस समय में वह माता अपने पुत्र को उसके शरीर के वर्ण, संस्थान, तिल, मस आदि लक्षणों को देख करके एवं उन्हें स्मृति में ला कर के उसे पहिचाने कि 'यह तो मेरा ही पुत्र' है। इसी प्रकार से अन्य बातों को भी समझ लेना चाहिये।

(२) 'सेसवं' के ५ भेद हैं—(१) कज्जेणं=कार्य से (२) कारणेणं=कारण से, (३) गुणेणं=गुण से, (४) अवयवेणं=अवयव से और (५) आसएणं=आश्रय से।

(१) पदार्थ के कार्यों को देखकर उनके आधार से उन पदार्थों को पहिचानना, 'कज्जेणं' अनुमान है, जैसे कि—'केकारव' से मयूर-मोर को, 'चिंघाड़ने' से हाथी को, 'हिन-हिनाने' से घोड़े को, 'झनझनाहट' से रथ को, इत्यादि को दूर से ही केवल आवाज के आधार से अनुमान करके उन प्राणियों को पहिचान लेना, 'कज्जेणं' अनुमान है।

(२) उपादान कारण से कार्य की उत्पत्ति होना और उसके आधार से कार्य का ज्ञान करना, 'कारणेणं' अनुमान है, जैसे कि—कपड़े का कारण सूत है, परन्तु सूत का कारण कपड़ा नहीं। गंजी (घास के समूह) का कारण कड़बी (घास विशेष) है, परन्तु कड़बी का कारण गंजी नहीं। रोटी का कारण आटा है, परन्तु आटे का कारण रोटी नहीं। घड़े का कारण मिट्टी है, परन्तु मिट्टी का कारण घड़ा नहीं। मुक्ति का कारण ज्ञान, दर्शन,

चारित्र, तप,' है, परन्तु ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का कारण मुक्ति नहीं।

(३) गुण के आधार से गुणी का ज्ञान करना, धर्म स्वाभाव के आधार से धर्मी का—द्रव्य का, स्वरूप पहिचानना, 'गुणेण' अनुमान है। जैसे कि—क्षार गुण द्वारा नमक का, गंध द्वारा फूल का, कसौटी के आधार से सोने का और स्पर्श आदि द्वारा कपड़े का, ज्ञान-शक्ति द्वारा आत्मा का, इत्यादि रूप से ज्ञान प्राप्त करना, 'गुणेणं' अनुमान है।

(४) अवयव के आधार से अथवा अंग विशेष के आधार से अवयवी का—अंगी का—ज्ञान करना, उसे पहिचान लेना, 'अवयवेणं' अनुमान है। जैसे—सींग की आकृति-विशेष द्वारा भैंस को, चित्र विचित्र पंख द्वारा मयूर को, कलंगी द्वारा मुर्गे को दंत शूल द्वारा सूअर को, खुर द्वारा घोड़े को, नख द्वारा व्याघ्र को, केश समूह द्वारा केशरी सिंह को, सूंड द्वारा हाथी को, पूंछ विशेष द्वारा चंवरी गाय को, दो पद द्वारा मनुष्य को, चार पद द्वारा पशु को, अनेक पग आकृति द्वारा गजाई-प्राणी विशेष को, कंकण के आधार से अविवाहित कन्या को, कन्चुकी के आधार से विवाहित स्त्री को, शस्त्र द्वारा सुभट को, काव्यालंकार-युक्त वाणी द्वारा पंडित को, पकते हुए अन्न में से एक कण को निकाल कर उसके आधार से अन्न की पक्व स्थिति को; इत्यादि रूप से ज्ञान प्राप्त करना 'अवयवेणं अनुमान प्रमाण' है।

(५) 'आश्रय-आश्रयी' 'सम्बन्ध-सम्बन्धी' के आधार से अनुमान लगाकर ज्ञान प्राप्त करना, 'आसएणं' अनुमान है। जैसे कि—धुऐं के आधार से अग्नि का ज्ञान लेना, बादल के

आधार से मेघ को जानना; बगुला आदि सरोवरप्रिय जानवरों के आधार से तालाब के अस्तित्व का ज्ञान करना; उत्तम आचरण के आधार से सुशील को समझ लेना; इस प्रकार आश्रय-आश्रयी का ज्ञान करना; "आसएणं अनुमान" है।

(३) दिट्ठिसामं नामक अनुमान प्रमाण के दो भेद हैं:—सामान्य रूप और विशेष रूप।

जातिगत सामान्य धर्म के आधार से एक व्यक्ति को—अथवा एक पदार्थ को देखकर संपूर्ण जाति को याने उस संपूर्ण वर्ग को जान लेना, उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना, "सामान्य दिट्ठिसामं" नामक अनुमान प्रमाण है। जैसे कि—एक रुपये को देखकर सभी रुपयों का स्वरूप समझ लेना, एक मारवाड़ी बैल को देख करके सभी मारवाड़ी बैलों की स्थिति समझ लेना, किसी भी प्रान्त अथवा देश विशेष के एक निवासी को देख करके शेष सभी पुरुषों के स्वरूप को समझ लेना, एक सम्यक् दृष्टि शील पुरुष के आचरण को देख करके शेष सभी सम्यक् दृष्टि शील पुरुषों के आचरणों का स्वरूप समझ लेना, "सामान्य दिट्ठिसामं" नामक अनुमान प्रमाण है।

विशेष एव विलक्षण कारणों को देखकर किसी खास परिस्थिति का अथवा पदार्थ का ज्ञान कर लेना, "विशेष दिट्ठिसामं" नामक अनुमान प्रमाण है। जैसे कि—किसी प्रतिभा संपन्न एवं विचक्षण दृष्टिशील मुनिराज ने विहार (करते करते) मार्ग में बहुत परिणाम में उगी हुई घास देखी, कुप-बावड़ी पानी से भरे हुए देखे, बाग बगीचे हरे-हरे देखे, इत्यादि कारणों से

उन्होंने अनुमान लगाया कि गत काल में यहां पर बहुत अच्छी वर्षा हुई है। आगे बढ़ने पर एक ग्राम दिखाई दिया, ग्राम था तो छोटा ही, श्रावकों के घर भी थोडे, घरो मे सामग्री थोड़ी ही, फिर भी श्रावक-श्राविकाओं की भक्ति भावों से परिपूर्ण थी, भावनाऐं उदार थीं, दान देते समय उत्कृष्ट भाव रखने वाले थे, इन घटनाओं को देख करके उन्होने अनुमान लगाया कि वर्त्तमान में इनका कुछ अच्छा होना दिखाई देता है। कुछ और आगे बढ़े तो मुनिराज श्री जी को पहाड़-पर्वत मनोहर दिखाई दिये, प्रतिकूल एवं हानिप्रद हवा का अभाव देखा, तारा टूटना अथवा उल्कापात होना जैसी अशुभ घटनाऐं नहीं दिखाई दीं, ग्राम के बाहर और भीतर मनोहरता दृष्टिगोचर हुई, इन परिस्थितियों के आधार से अनुमान लगाया कि भविष्यत् काल में यहा पर अच्छा होना प्रतीत होता है। उपरोक्त दृष्टान्त को शुभ-कारणो के आधार से कहा गया है, अब अशुभ कारणो के आश्रय से होने वाले अनुमान का स्थूल स्वरूप बतलाया जाता है:—

कल्पना करें कि किसी विचारशील एवं चारित्र-संपन्न मुनिराज ने विहार-मार्ग मे देखा कि—भूमि घास-रहित है, बाग-बगीचे सूखे हैं, कूए-बावडी जल रहित हैं, तब अनुमान उत्पन्न हुआ कि यहां पर भूतकाल मे वर्षा बहुत ही थोड़ी हुई है। आगे बढ़ने पर ग्राम में जाकर देखा तो मालूम हुआ कि ग्राम बड़ा है, श्रावकों के भी अनेक घर हैं, घरों मे सामग्री भी विपुल मात्रा में है, परन्तु श्रावक-श्राविकाऐं अभिमानी, विनय-रहित, कंजूस और दान-भावनाओं से रहित प्रतीत हुईं, इस पर से

अनुमान उत्पन्न हुआ कि वर्त्तमान काल में यहां पर कुछ न कुछ अशुभ होने वाला दिखाई देता है। जब कुछ और आगे बढ़े तो मुनिराज श्री जी को ग्राम के भीतर और बाहिर अरमणीयता प्रतीत हुई, "धरती कंपन. तारा टूटना, बिजली चमकना" आदि घटनाएं देखीं, इन परिस्थितियों के आधार से अनुमान किया कि भविष्यत्-काल में यहां पर कुछ न कुछ अशुभ होता हुआ दिखाई देता है। यह अनुमान अशुभ-परिस्थितियों के आश्रय से उत्पन्न होने वाला समझना चाहिये।

आगम–प्रमाण

आगम प्रमाण के ३ भेद हैः—(१) सुत्तागम, (२) अत्थागम और (३) तदुभयागम।

(१) श्री जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित और श्री गणधर महाराज एवं श्री पूर्वधर ऋषि मुनिराजों द्वारा संग्रंथित द्वादशांगी रूप सूत्र एवं इसी कोटि के ग्रन्थ हो "सुत्तागम" नामक आगम प्रमाण कहे जाते हैं।

(२) उक्त सूत्र-ग्रंथो के अनुसार ही सर्व-साधारण के लिये बनाये गये उपयोगी अर्थ-बोधक ग्रथ, सूत्र के अनुसार ही तात्पर्य को समझाने वाले टीका-व्याख्या-भाष्य-निर्युक्ति-चूर्णि के रूप में कहे जाने वाले ग्रथ और इस सबधी साहित्य "अत्थागम" नामक आगम प्रमाण है।

(३) उपरोक्त दोनों गुणो से सम्मिलित साहित्य, मूल और अर्थात्मक ग्रथ, इस प्रकार सूत्र और अर्थ, तथा दोनों से

मिलता हुआ कोई भी समास रूप ग्रंथ, "तदुभयागम" नामक आगम प्रमाण है।

उपमा–प्रमाण

किसी भी पदार्थ के स्वरूप को समझाने के लिये उपमा की परिकल्पना करके ज्ञान प्राप्त कराना, पारस्परिक रूप में साधर्म्य-वैधर्म्य धर्मों का आधार लेकर हीनता, विशेषता, समानता, असमानता, अनुकूलता, प्रतिकूलता, एकरूपता, अनेक रूपता, आदि विविध धर्म-शीलता के आधार से दृष्टान्त द्वारा, पदार्थ-विशेष के स्वरूप को समझाना, "उपमा" प्रमाण है।

उपमा प्रमाण का उल्लेख चार भंगियों द्वारा किया जा सकता है:—

(१) सत् रूप वस्तु के लिये सत् रूप उपमा देना।

(२) सत् रूप वस्तु के लिये असत् रूप उपमा देना।

(३) असत् रूप वस्तु के लिये सत् रूप उपमा देना।

(४) असत् रूप वस्तु के लिये असत् रूप उपमा देना।

इनका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) सत्ताशील वस्तु को याने विश्व में पाये जाने वाले पदार्थ को समझाने के लिये सत्ताशील वस्तु अर्थात् पाई जाने

वाली वस्तु के साथ तुलना करके उसके स्वरूप को समझाना, प्रथम भंग है। जैसे कि—भविष्यत् काल में प्रथम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीजी महाराज जैसे होंगे। द्वारका नगरी कैसी थी? उत्तर साक्षात् अलकापुरी-देवताओं की नगरी के समान थी। यह उपमा "सत्रूप पदार्थ के लिये सत् रूप उपमा" नामक प्रथम भग है।

(२) सत्ताशील पदार्थ को-अस्तित्व मय वस्तु को-समझाने के लिये असत् पदार्थ की,—नास्ति रूप पदार्थ की-कल्पना करके उस सत्ता शील पदार्थ के स्वरूप को समझाना, द्वितीय भंग है जैसे कि—नारक और देवताओं का आयुष्य पल्योपम एव सागरोपम जितना कहा गया है, जोकि सच्चा है, परन्तु उस पल्योपम अथवा सागरोपम के स्वरूप को समझाने के लिये जो चार कोस के कुए में,-कूप में-युगलियों के वालाग्र भाग को भरने की एव सौ सौ वर्षों में निकालने का, तथा इसी पद्धति द्वारा सपूर्ण कूप के खाली होने पर काल-परिमाण समझाने की रीति कही गई है, वह सर्वथा असत् रूप ही है, क्योंकि इस प्रकार आज दिन तक गत अनादिकाल में ऐसा कूप न तो किसी ने भरा है, न कोई भर रहा है, और न कोई भविष्यत्-काल में भरेगा ही, केवल काल की महान्तम विपुलता एव आयु की विशालतम विस्तीर्णता समझाने के लिये ही यह दृष्टान्त दिया जाता है, अतएव यह "सत् रूप पदार्थ" को समझाने के लिये "असत् रूप पदार्थ" की परिकल्पना मात्र है। इसी प्रकार सपूर्ण लोक के क्षेत्रफल को समझाने के लिये जो "राजू" परिमाण बतलाया है, वह भी "सत् के साथ असत् की उपमा"

वाला ही दृष्टान्त है, क्योंकि "राजू" को मापने के लिये तीनों काल में भी किसी ने न तो हजार भार वाला लोहे का गोला फेका है, न कोई फेंकता है और न कोई फेंकेगा ही। फिर भी "राजू" परिमाण एक सत्यशील वस्तु-तत्त्व है। यह कथन "सत रूप वस्तु उपमा" नामक द्वितीय भंग हुआ।

(३) मिथ्या रूप वस्तु के लिये सत्य-शील उपमा देना, घटना विशेष को समझाने के लिये अवास्तविक बात के लिये भी वास्तविक बात का उदाहरण देना, यह "असत् वस्तु के लिये सत रूप की उपमा देना" नामक उपमा सबधी तीसरा भग हुआ। जैसे कि—जुआर कैसी है? उत्तर—मोती के दाने के समान। तीर्थंकरों की शक्ति के आगे मेरू पर्वत कैसा है? उत्तर—सरसों के दाने के समान। जुगनू नामक प्राणी कैसा है? उत्तर—सूर्य के समान। इस प्रकार इस तृतीय भंग का स्वरूप समझ लेना चाहिये।

(४) मिथ्या रूप वस्तु के लिये मिथ्या रूप वस्तु की ही उपमा देना, घटना विशेप को समझाने के लिये अवास्तविक बात के लिये अवास्तविक बात का ही उदाहरण देना, यह "असत् वस्तु के लिये असत् वस्तु की ही उपमा देना" नामक उपमा संबंधी चौथा भग हुआ।

जैसे कि—विश्व की अनित्यता-अस्थिरता को समझाने के लिये वृक्ष और पत्ते की पारस्परिक बात-चीत कराना, जो कि कविता रूप में इस प्रकार है:—

(१) पान झरंतां यों कहे, सुन तरुवर वन राय ॥
अबके बिछुड़े कब मिलें ? दूर पड़ेंगे जाय ॥१॥

(२) तब तरुवर उत्तर दियो, सुन पत्र मुझ बात ॥
इस घर या ही रीत है, इक आवत इक जात ॥२॥

(३) खिरीं जो पानड़ियां, हसी जो कूँपलियां ॥
आज बीती पानड़ियां, कल बीतेगी कूँपलियां ॥३॥

(४) एक नौकर अथवा दास अपने स्वामी को समझाने के लिये "वृक्ष और फूल" की बात चीत को आधार बना करके अपनी भावना को इस प्रकार व्यक्त करता है:—

कवित्तः— सुनिये विटप प्रभु ! पुहुप तिहारे हम,
राखिहौ हमें तो शोभा रावरी बढ़ाई हैं।
तजिहौ हरि कै तो विलगि न मानैं कछु,
जहां जहां जै हैं तहाँ दूनी जस छाई हैं।
सुरनि चढैंगे, नर सिरनि मढ़ैंगे नित,
सुकवि "अनास" हाथ हाथन विकाई हैं।
देश में रहैंगे, परदेश में रहैंगे.
काहू भेस में रहैंगे, तऊ रावरे कहाई हैं।

इस प्रकार की कथन-शैली "असत् वस्तु के लिये असत् उपमा" नामक उपमा का चौथा भंग समझा जाना चाहिये।

घोड़े के सींग कैसे ? उत्तर—गधे के सींग जैसे। गधे के सीग कैसे ? उत्तर—घोडे के सीग जैसे।

इस प्रकार का वर्णन चौथा भग है।
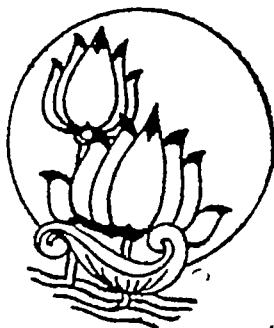
गुण-गुणी द्वार
दसवाँ द्वार

प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण-स्वभाव-धर्म वाला है। जैसे कि घड़े में रूप है, रस है, गंध है. स्पर्श है, पर्यायों के परिवर्तन का स्वभाव है, अनित्य है, क्षयरूप है, द्रव्य दृष्टि से नित्य शीलता भी है, ज्ञेय धर्म भी है। इत्यादि अनेक गुणों का पुञ्ज है। आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, तप है, बल है, असंख्यात प्रदेशशीलता है, जन्म-मरण रूप सांसारिक पर्याएँ हैं, अरस. अगंध, अस्पर्श, आदि धर्म हैं, इत्यादि अनेक गुणों का अस्तित्व है।

जिन तत्त्वो से द्रव्य का निर्माण हुआ है, जो तत्त्व द्रव्य के अभिन्न अग हैं, जिनके आधार से ही द्रव्य का द्रव्यत्व कायम है, जो त्रिकाल में भी द्रव्य से अलग नहीं होते हैं, द्रव्य के जिन तत्त्वों में ही पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश हुआ करता है, इस प्रकार द्रव्य के जो मूल लक्षण रूप हैं, वे गुण कहलाते हैं।

इन गुणों को धारण करने वाला ही गुणी कहलाता है।

गुणी का ही दूसरा नाम द्रव्य है । क्योंकि गुण और इन गुणों मे होने वाली पर्यायें द्रव्य के ही अभिन्न अंग है प्रत्येक गुणी रूप द्रव्य पर्यायशील स्वभाव वाला होने के कारण से हर समय मे और हर क्षण में संयोगानुसार भिन्न भि पर्यायों मे रूपान्तर वाला अथवा पर्यायान्तर वाला होता रहत है । अनेकानेक पर्यायों को धारण करता रहता है। इस प्रका गुणी रूप द्रव्य में जो परिवर्तन होने की शक्ति-विशेष रही हुई है वही गुण है । गुणों के परिवर्तन का ही नाम पर्याय है। इ प्रकार गुण कारण है और पर्याय ही उसका कार्य है । प्रत्ये द्रव्य में अनन्त गुण स्वभावतः रहे हुए हैं, जो कि द्रव्य से अवि भाज्य हैं। इन्हीं गुणों में तीनो कालो में पर्यायो का उत्पाद और विनाश क्रमशः निरन्तर होता रहता है। किन्तु फिर भ द्रव्य का द्रव्यत्व अथवा गुणी का गुणत्व ध्रौव्य रूप से,—मू रूप से—कायम रहता है, अतएव गुणी उत्पात रूप भी विनाश रूप भी है और ध्रौव्य रूप भी है। इस प्रकार प्रवाह व अपेक्षा से पर्यायें अनादि अनन्त रूप होती हुई भी सादिसा है। एव गुणी रूप द्रव्य भी पर्यायो की अपेक्षा से सादिसा होता हुआ भी मूल-स्थिति की अपेक्षा से अनादि और अनन्त है

अनंत गुणो का अखंड और अविभाज्य एक समूह गुणी रूप द्रव्य पदार्थ है। छद्मस्थ आत्माओं की ज्ञान-श परिमित और अल्प होती है, इसी लिये वे अनन्त गुण हमा समझ के अन्तर्गत नहीं आ सकते हैं। केवल अति सामान्य गु ही, जैसे कि चेतन, आनन्द आदि ही समझ में आते हैं। इ प्रकार पुद्गल गुणी रूप द्रव्य के भी अनंत गुण होने पर ...

केवल रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि कुछ ही गुण समझ में आते हैं। इस पद्धति से गुणों के मूल रूप से दो भेद होगये हैं:—(१) बुद्धिगम्य और (२) बुद्धि से अगम्य। बुद्धि गम्य गुण मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान द्वारा ज्ञेय है और बुद्धि से अगम्य गुण अवधि, मनः पर्याय और केवल ज्ञान द्वारा ज्ञेय होते हैं। द्रव्य के कई एक गुण तो ऐसे हैं, जोकि केवल—केवल ज्ञान द्वारा ही जाने जा सकते हैं, वे गुण केवलिगम्य गुण कहलाते हैं। यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक द्रव्य याने गुणी पदार्थ अनन्त पर्यायों वाला है, इस प्रकार हर समय में गुणी पदार्थ में गुणों की पर्यायों के लिहाज से अनन्त पर्यायों का प्रवाह चलता रहता है। यों प्रत्येक गुण की अपनी अपनी पर्यायें "सजातीय पर्याये" कहलाती हैं और सहयोगी एवं सहचारी गुणों की पर्यायें परस्पर में "विजातीय-पर्यायें" कहलाती हैं। जैसे कि—ज्ञान की पर्यायें अपने मूल कारण रूप ज्ञान के लिहाज से "सजातीय पर्याये" हैं और चारित्र एव आनद की पर्यायें सहयोगी एव सहचारी होने पर भी भिन्न गुण पर्यायें होने के कारण से "विजातीय पर्यायें" कहलाती हैं।

अनेक गुण ऐसे भी है, जोकि सभी द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते है, जैसे कि—"अस्तित्व, प्रदेशवत्त्व, ज्ञेयत्व," आदि। फिर भी अपने अपने असाधारण गुणो के कारण से प्रत्येक द्रव्य अनादि रूप है और अक्षय एव अनन्त रूप है। और इसी कारण से प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व एव ज्ञेयत्व गुण रहा हुआ है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय

रूप द्रव्यो का भी गुण-गुणी के रूप में इसी पद्धति से विचार कर लेना चाहिये।

इन छह ही द्रव्यो में केवल पुद्गल द्रव्य ही मूर्त रूप है, इसलिये इसके गुण गुरु लघु रूप होते हैं, और इसकी पर्यायें भी गुरु लघु रूप होती है, किन्तु बाकी के पाँच द्रव्य अथवा गुणी पदार्थ अमूर्त्त होते हैं, इसी कारण से उनके गुण और उनकी पर्याये भी अगुरु और अलघु रूप होती हैं।

सामान्य और विशेष

ग्यारहवाँ द्वार

एक से अधिक पदार्थों में पाये जाने वाले तुल्य स्वरूप का नाम "सामान्य धर्म" है। जैसे नरक शब्द द्वारा सातों नरकों का ज्ञान हो जाता है। तिर्यंच शब्द द्वारा एकेन्द्रिय प्राणी से लगाकर पचेन्द्रिय प्राणी तक का बोध हो जाता है।

सामान्य दो प्रकार का है:—(१) तिर्यक् सामान्य और (२) ऊर्ध्वता सामान्य।

अनेक पदार्थों की पारस्परिक दृष्टिकोण से एक सरीखी समानता ही तिर्यक् सामान्य है। जैसे—काली, पीली, सफेद आदि विभिन्न रग वाली गायों में "गायत्व" याने "गोपना" यही तिर्यक् सामान्य है। कडुआ, मीठा, तीखा, कसायला आदि स्वादों में "रस धर्म" तिर्यक् सामान्य है।

पर्यायों के परिवर्तन होते रहने पर भी सभी पर्यायों में मूल धर्म की स्थिति "मोतियो की माला में सूत के समान" ज्यों की त्यों पाई जाना ही, ऊर्ध्वता सामान्य है। जैसे कि सोने के

कड़े को तुड़ाकर उसका कंकण बनाने पर भी सोना कड़े के समान ही कंकण में भी मौजूद है ही। बाल, युवा, वृद्ध होने पर भी "मनुष्य पर्याय" तीनों मे पाई जाती है। इस प्रकार इस दृष्टान्त में "मनुष्य पर्याय" ही ऊर्ध्वता सामान्य है।

जिसके कारण से अनेक पदार्थों में परस्पर में भिन्नता, असाधारणता, विलक्षणता पाई जाय, वही "विशेष-धर्म" है। जैसे कि आत्मा में ज्ञान-उपयोग की विशेषता है, पुद्गलों में जड-धर्म की विशेषता है। आकाश में अवकाश-जगह देने की विशेषता है। पशु चार पैर वाला है और मनुष्य दो पैर वाला, इत्यादि पारस्परिक भिन्नता ही इनकी विशेषता है।

विशेष के भी दो भेद हैं.—(१) गुण और (२) पर्याय।

सहभावी धर्म ही,—साथ साथ में रहने वाला धर्म ही गुण कहलाता है। जैसे कि अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता, किरण में प्रकाश-शीलता, आत्मा में ज्ञान-शीलता, आदि। पदार्थ में क्रम से परिवर्तन होते रहने के कारण से उत्पन्न होने वाली अवस्था ही,—विशेषता ही—पर्याय-धर्म है। जैसे कि—आत्मा में सुख-दुःख होना। अग्नि मे उष्णता की हानि-वृद्धि होना।

विषय विवेचन की दृष्टि से किसी भी विषय का केवल नाम-निर्देश करना, सामान्य कथन है, और विस्तारपूर्वक विवेचन करना, विशेष कथन है।

"नरक" शब्द का कथन करना सामान्य विवेचन है,

और रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि नरक के सातों भेदों का कथन करना, ४२ आंतरे, ४६ पाथड़े तथा ८४ लाख नरक आवास इत्यादि रूप से नरक का विस्तार पूर्वक विवेचन करना, विशेष कथन है।

"देवता" शब्द कहना सामान्य विवेचन है, और भवन-पति, बाण व्यंतर, ज्योतिषी, आदि भेदों का उल्लेख करना, विशेष कथन है। यों ही सभी बातो के संबंध में समझ लेना चाहिये।

ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञानी

बारहवाँ द्वार

ज्ञान का विषय ही ज्ञेय है। जो कुछ ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है, वह ज्ञेय कहलाता है। छह ही द्रव्य, अखंड लोक और पूर्ण लोक में पाई जाने वाली सभी वस्तुएँ और उन वस्तुओं की तीनो कालो में उत्पन्न होने वाली सभी पर्यायें एवं पर्यायों के सभी अंश "ज्ञेय" कहलाते हैं। इस प्रकार ज्ञेय धर्म के अन्तर्गत सभी रूपी और अरूपी पदार्थ-द्रव्य, जड और चेतन द्रव्य, सब कुछ आ जाता है। कोई भी द्रव्य, द्रव्य की कोई भी पर्याय, और पर्याय का कोई भी भाग "ज्ञेय" धर्म के बाहिर नहीं है। यदि "ज्ञेय" के बाहिर किसी भी पदार्थ को अथवा वस्तु को माना जायगा तो उस पदार्थ का "पदार्थपना" ही, और वस्तु का "वस्तुपना" ही नष्ट हो जायगा। प्रत्येक आत्मा में अनुभव करने की जो शक्ति रही हुई है, जो अनुभूति-शक्ति, संवेदन-शक्ति रही हुई है, उसी का नाम "ज्ञान" है। यही चेतन तत्त्व का असाधारण धर्म है। इसी के बल पर "जीवास्तिकाय द्रव्य का अस्तित्त्व कायम है। ज्ञानी और ज्ञाता पर्यायवाची शब्द हैं। ज्ञान को धारण करने वाला द्रव्य

ही ज्ञानी अथवा ज्ञाता कहा जाता है। द्रव्यों के स्वरूप को जानने की शक्ति रखने वाला तत्त्व ही ज्ञानी अथवा ज्ञाता है।

इसी बोल के अन्तर्गत "ध्येय, ध्यान, और ध्यानी" का उल्लेख भी देखा जाता है। जिस वस्तु-तत्त्व का चिंतन, मनन, और स्मरण किया जाय, वही ध्येय कहलाता है। वस्तु-तत्त्व का चिंतन, मनन, और स्मरण करने का सुव्यवस्थित प्रयास ही ध्यान है।

वस्तु-तत्त्व का सुव्यवस्थित रीति से चिंतन-मनन-स्मरण करने वाली सात्त्विक आत्मा ही "ध्यानी" है। ध्यानी और ध्याता पर्यायवाची शब्द ही हैं।
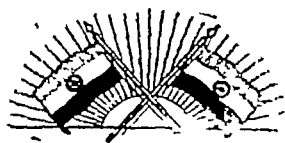
उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य
तेरहवां द्वार

उत्पाद का सामान्य अर्थ उत्पन्न होना, व्यय का अर्थ नाश होना और ध्रौव्य का अर्थ अनेक पर्यायों के उत्पन्न और नाश होने पर भी मूलस्वरूप की दृष्टि से तथा सत्ता याने अस्तित्व की दृष्टि से कायम रहना, मौजूद रहना। यही ध्रौव्य है। लोक के सभी द्रव्यो मे ये तीनों अवस्थाएँ समान रूप से पाई जाती हैं। जैन दर्शन सभी पदार्थों को परिणामी-नित्य मानता है। परिणामी से तात्पर्य है:—पर्यायों का उत्पाद-व्यय होते रहने पर भी कोई भी पदार्थ सत्ता की दृष्टि से अनित्य नहीं है। नष्ट हो जाने वाला नहीं है। प्रत्येक वस्तु की स्थिति नित्यानित्य रूप है, एक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु तीनों कालों मे अक्षय है,—शाश्वत है। और दूसरी दृष्टि से वही वस्तु प्रत्येक क्षण मे—विनाश रूप भी है और उत्पत्ति रूप भी है। किसी एक ही दृष्टि से देखने पर वस्तु केवल नाश रूप अथवा स्थिर रूप ही दिखाई देगी, और ऐसी स्थिति में "वस्तु का पूरा पूरा ज्ञान हो गया है" ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि एक दृष्टि से केवल एक अंश ही दिखाई देगा, न कि वस्तु का पूर्ण रूप। इसलिये जैन दर्शन सभी पदार्थों को "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य" रूप मानता है।

जैन तीर्थंकरों ने और पूज्य भगवान अरिहंतों ने इसी सिद्धान्त को "*उप्पन्ने वा, विगए वा, धुवे वा*" इन तीन शब्दों द्वारा "त्रिपदी" के रूप में संग्रहित कर दिया है। इस त्रिपदी का जैन-आगमों में इतना अधिक महत्त्व और इसकी सर्वोच्च-शीलता बतलाई है कि इनके श्रवण मात्र से ही गणधरों को चौदह पूर्वो का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। द्वादशांगी रूप वीतरागवाणी का यह हृदय-स्थान कहा जाता है। भारतीय साहित्य के सूत्र-युग में निर्मित महान् ग्रंथ तत्त्वार्थ-सूत्र मे इसी सिद्धान्त का "*उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्*" इस सूत्र से उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो सत् यानी द्रव्य रूप अथवा भाव रूप है, उसमें प्रत्येक क्षण नवीन नवीन पर्यायों की उत्पत्ति होती रहती है, एवं पूर्व पर्यायों का नाश होता रहता है, परन्तु फिर भी मूल द्रव्य की द्रव्यता अर्थात् मूल सत् की सत्ता पर्यायों के परिवर्तन होते रहने पर भी ध्रौव्य रूप से बराबर कायम रहती है। विश्व का कोई भी पदार्थ इस स्थिति से वंचित नहीं है।

भारतीय साहित्य के मध्यमयुग में तर्क जाल से सगुफित घनघोरशास्त्रार्थ रूप संघर्षमय समय में जैन साहित्यकारों ने इसी सिद्धान्त को "स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, और स्यात् अवक्तव्य" इन तीन शब्द समूह के आधार पर सप्तभंगी के रूप में संस्थापित किया है।

इस प्रकार:—

(१) "उप्पन्ने वा, विगए वा, धुवे वा" नामक अरिहंत प्रवचन,

(२) "सिया अत्थि, सिया नत्थि, सिया अवत्तव्वं" नामक आगम वाक्य,

(३) "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्" नामक संस्कृत सूत्र, और

(४) "स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्यं" नामक तर्कात्मक संस्कृत वाक्य, ये सब द्रव्य रूप वस्तु की तीनों कालों में प्रत्येक क्षण में और निरन्तर रूप से प्रवर्त्तमान पर्यायों की स्थिति का, लय का और नित्यता का बोध कराने वाले वाक्य-समूह है। इस प्रकार वस्तु-विवेचन की प्रणाली में "उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य" का असाधारण महत्त्व रहा हुआ है। दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर स्वामी के सिद्धान्तों में से यह सिद्धान्त "दार्शनिक सिद्धान्तों में विरोधों के उत्पन्न होने पर उनकी विवधताओं का समन्वय करने के लिये" अमोघ अस्त्र के समान है और यह निर्विवाद सत्य है।

आधार-आधेय
चौदहवाँ द्वार

जो सहारा दे, अवलम्बन दे, वह आधार है, और जो सहारा ग्रहण करे, याने आश्रित रहे, वह आधेय है जैसे—पृथ्वी आधार है और घट आदि पदार्थ आधेय हैं। पात्र आधार हैं और घृत आदि वस्तुएँ आधेय हैं। आत्मा आधार है और ज्ञान आनंद आदि धर्म उसके आधेय हैं। पुद्गल आधार है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण उसके आधेय हैं। आकाश आधार है और शेष पांचों द्रव्य आधेय हैं।

आविर्भाव-तिरोभाव
पन्द्रहवाँ द्वार

आविर्भाव का सामान्य अर्थ है:—छिपे हुए एवं गुप्त रहे हुए (पदार्थ) का प्रकट हो जाना। इसी प्रकार तिरोभाव का

उत्सर्ग में तीन गुप्ति है और अपवाद में पांच समितियां हैं।

उत्सर्ग मार्ग का साधक साधु रोग-परिषह के उत्पन्न होने पर भी उसको समभाव पूर्वक सहता है, परन्तु औषधि नहीं करता है। जब कि अपवाद मार्ग का अनुयायी रोग से असमाधि का अनुभव करता है तथा चित्त में व्याकुलता एवं खेद अनुभव करता है और ज्ञान-ध्यान में अन्तराय देखता है, तो ऐसी स्थिति में वह समाधि के लिये निरवद्य-औषधि-उपचार करता है।

इस प्रकार उत्सर्ग-मार्ग और अपवाद मार्ग की सूक्ष्मता समझ लेनी चाहिये।

आत्मा तीन

स्व-आत्मा, पर-आत्मा और परमात्मा

अठारहवाँ द्वार

....

अपनी आत्मा ही स्व-आत्मा है; दूसरों की आत्मा ही पर-आत्मा है और अरिहंत-सिद्ध प्रभु ही परम आत्मा हैं।

दोहा:— निजात्मा का दमन कर, परआत्मा को चीन।
परमात्मा का भजन कर, यही मत है प्रवीन॥

आत्मा की अवस्था याने—स्थिति की दृष्टि से तीन भेद और किये गये हैं:—बाह्य-आत्मा, आभ्यंतर-आत्मा और परपात्मा।

ये तीन भेद आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति और अवनति के दृष्टिकोण से किये गये है। आत्मा उन्नत है अथवा अवनत? विकासशील है अथवा अविकासशील? सम्यक्त्वी है अथवा मिथ्यात्वी? सद्गुणशील है अथवा दुर्गुणशील? उत्थान की ओर है अथवा पतन की ओर? इस स्थिति को

समझाने के लिये ही ये तीन भेद किये गये हैं।

"बाह्य-आत्मा" की स्थिति में भोग-उपभोग की वस्तुओं को ही, सांसारिक सुख सुविधाओं को ही, परिवारिक-मनुष्यों को ही, और अपने शरीर को ही मूढ़ आत्मा सर्वस्व समझता है, इनके अतिरिक्त आत्म-तत्त्व को, लोक परलोक को, ईश्वर और ईश्वरीय शक्तियों को वह मूढ़ आत्मा मिथ्या रूप मानता है। इन्हें नास्तिक रूप समझता है एवं इस लोक को ही तथा इन्द्रिय गोचर पदार्थों को ही सत्यरूप मानता है। सात्त्विक-वृत्तियों के प्रति सर्वथा उपेक्षा भाव रखता हुआ तामसिक वृत्तियों में ही दिलचस्पी रखता है। पाप की ओर ही अधिक प्रवृत्ति होती है और पुण्य की ओर जरा भी भावना उत्पन्न नहीं होती है। "शरीर ही मैं हूँ" इसी बात पर उसका विश्वास होता है। "चिरन्तन सत्य रूप अजर अमर आत्म-तत्त्व" के प्रति उसे विश्वास नहीं होता है। इस स्थिति वाला आत्मा ही "बाह्य-आत्मा" कहलाता है। गुण स्थान-श्रेणि की दृष्टि से ऐसी आत्माएँ "पहले, दूसरे और तीसरे" गुण स्थान तक ही समझी जाती हैं। इन बाह्य आत्माओं का केवल इन तीन गुण स्थानों तक ही उतार-चढ़ाव होता रहता है। इस बाह्य भावना का परित्याग करने पर ही "आभ्यंतर--आत्मा" की स्थिति प्राप्त हुआ करती है और तभी आगे के गुण स्थानों की प्राप्ति की जा सकती है।

(२) "आभ्यंतर आत्मा"—नामक स्थिति में आत्मा सात्त्विक-प्रवृत्तियों का आचरण करती है, इस स्थिति में आत्मा यह अनुभव करती है कि—"मैं चैतन्य शील हूँ, अमूर्त्त हूँ, ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही मेरा मूल और शाश्वत धर्म है, मैं अखंड हूँ,

अजर हूँ, अमर हूँ, व्रत, त्याग, नियम, संयम, ध्यान और प्रत्याख्यान ही मेरे लिये साधना रूप हैं। "गुणों की आराधना करना और कर्मों का क्षय करके आत्यंतिक निर्मलता प्राप्त करना" यही मेरे लिये सर्वोच्च और अंतिम ध्येय है। यह शरीर और मैं इसी प्रकार अलग अलग हैं, जैसे कि तिलहन से तेल, दूध से घी, मिट्टी से धातु, फूल से गध, इत्यादि एक दूसरे से अलग अलग हैं।" इस प्रकार की पद्धति द्वारा शरीर, कुटुम्ब और बाह्य मनोरम पुद्गलो में ऐसी आत्मा न तो आसक्त होती है और इन्हें अपना भी नहीं मानती है। सम्यक्त्वी की, श्रावक की और साधु की आत्मा "आभ्यंतर आत्मा" कही जाती है। क्योंकि ये आत्माएँ "साधना-मार्ग" पर चलने वाली कही जाती हैं। ऐसी आत्माएँ चौथे गुण स्थान से लगा कर ग्यारहवें गुण स्थान तक की स्थिति वाली हुआ करती हैं।

"आभ्यंतर-आत्मा" की स्थिति आध्यात्मिक दृष्टि से वास्तविक विकास की ओर ही हुआ करती है। सर्व सद्गुणों का और भक्ति पूर्ण भावनाओं का सुन्दर संयोग इसी आदर्श अवस्था में हुआ करता है। इसे ही मुमुक्षु-अवस्था कहते हैं। भक्त और ज्ञानी इसी "आभ्यंतर-आत्म अवस्था" की आकांक्षा किया करते हैं। परमात्मपद प्राप्ति का यह मूल आधार और प्रथम पद है। इसी के बल पर "निजात्म स्वरूप केवल ज्ञान" की प्राप्ति हुआ करती है। जो कि आत्मा के परिपूर्ण विकास की प्रथम श्रेणी है। इस प्रकार यही "अन्तर-आत्मा" अथवा "आभ्यंतर-आत्मा" की सामान्य व्याख्या है।

(३) "परमात्मा" नामक आत्म-स्थिति में आत्मा अपने

अखिलगुणों का स्वामी हो जाता है। सभी प्रकार से कृतकृत्य और परिपूर्ण हो जाता है। केवल ज्ञान, केवल दर्शन, और यथा-ख्यात चारित्र का धनी हो जाता है। ज्ञानावरणीय, दर्शन. वरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक घनघाती कर्मों का जडमूल से आत्यंतिक क्षय करके, आत्मा "(१) अविकल और अखंड ज्ञान, (२) अचिन्त्य और अक्षय आत्म विश्वास, (३) अबाध और अनंत आनंद, (४) निर्मल और अपरिमित अनासक्त रूप निस्संग अवस्था, (५) अजर-अमर रूप अक्षय स्थिति, (६) निरंजन-निराकार रूप मौलिक अवस्था, (७) उच्चता-नीचता-रूप श्रेणी भेद से रहित एकावस्थिति, और (८) अनंत शक्ति" इस प्रकार इन आठ मूल भूत अभिन्न आत्म-गुणों का धारक बन जाता है। यही परमात्मपद है। यही ईश्वर अवस्था है। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वर्त्ती आत्माएँ "परमात्मा" रूप कही जाती है। बारहवें और तेरहवें गुण-स्थान वर्त्ती आत्माएँ शरीर युक्त होती हैं और चौदहवें गुण-स्थान वर्त्ती आत्माएँ शरीर से मुक्त होने का प्रयत्न किया करती हैं, जिसमें उन्हे केवल पाँच ह्रस्व स्वर बोलने जितना मात्र ही समय लगा रहता है। तत्पश्चात् वे महान् आत्माएँ "मुक्त", "सिद्ध" अथवा "परमात्मा" रूप कही जाती हैं। मोक्ष रूप अवस्था में वे महान् आत्माएँ अनन्तानंत काल के लिये विराज-मान हो जाया करती हैं। वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहंत, सिद्ध, केवलज्ञानी, जिन, परमेश्वर, शिव प्रभु, विभु, इत्यादि अनेकानेक पर्यायवाची नामों द्वारा उस "परमात्मा" का उल्लेख किया जाता है। भक्त और मुमुक्षु आत्माओं ने प्रेम एवं भक्ति से प्रेरित होकर इस परम पिता परमात्मा के "गुण और शक्ति" के

अनुरूप ईश्वर-वाचक हजारों शब्दों का निर्माण कर लिया है, जो कि परमात्मा संबंधी अनंतानंत गुणों का और उसकी शक्ति का विविध रीति से बोध कराते हैं।

ध्यान चार

उन्नीसवां द्वार

(१) पदस्थ ध्यान, (२) पिण्डस्थ ध्यान, (३) रूपस्थ ध्यान और (४) रूपातीत ध्यान।

(१) पदस्थ ध्यान—णमोक्कार मंत्र, लोगस्स, णमोत्थुणं आदि स्तुति-प्रार्थना पाठों का स्वस्थ चित्त के साथ एकाग्रता पूर्वक मौन रहते हुए स्मरण करना, शास्त्रों के मूलपाठ का स्मरण, मनन, चिन्तन, और स्वाध्याय करना।

(२) पिण्डस्थ ध्यान—आत्मा के और शरीर के स्वरूप का भेद पूर्वक चिन्तन करते हुए उनकी अपनी अपनी मौलिकता का चिन्तन, मनन, और सूक्ष्म अध्ययन करना।

(३) रूपस्थ ध्यान—अरिहंत-केवली-भगवान् के स्वरूप का चिन्तन-मनन करना, द्रव्य रूप पदार्थों का और उनके गुण पर्यायों का चिन्तन-मनन करना।

(४) रूपातीत ध्यान—सिद्ध भगवान् के स्वरूप का और उनके अनन्त एवं महान् मौलिक गुणो का सूक्ष्मरीत्या ध्यान करना, मनन करना, और चिन्तन करना।

ध्यान के प्रमुख रूप से चार भेद और भी हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

(१) अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसको दूर हटाने के लिये की जाने वाली व्यग्रतापूर्वक चिन्ता, दुःख-कष्ट के आ पड़ने पर उसका निवारण करने के लिये की जाने वाली खेद पूर्वक चिन्ता, प्रिय वस्तु के वियोग हो जाने पर उसको प्राप्त करने के लिये की जाने वाली लालसा-तृष्णामय चिन्ता, और भोग की भावना की तृप्ति के लिये प्राप्त न हुई वस्तु की प्राप्ति के लिये की जाने वाली सकल्प-विकल्पमय चिन्ता यह सब मानसिक कुप्रवृत्ति "आर्तध्यान" है। ऊपर लिखी हुई चारो प्रकार की चिन्ताओं के नाम क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) अनिष्ट संयोग आर्तध्यान, (२) इष्ट वियोग आर्तध्यान, (३) रोग-चिन्ता आर्तध्यान, और (४) निदान आर्तध्यान।

आर्तध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं:—

(१) आक्रंदन करना, (२) शोक करना, (३) रुदन करना, और (४) विलापात करना।

प्रथम गुण-स्थान से लगाकर पाचवें गुणस्थान तक की स्थिति में रहने वाले जीवों में आर्तध्यान के उक्त चारों भेद पाये

जाते हैं, और छट्ठे गुणस्थान वर्त्ती जीवों में आर्तध्यान के प्रथम तीन भेद ही पाये जाते हैं, चौथा भेद रूप आर्तध्यान इस गुण स्थान के जीवो में नहीं पाया जाता है। यदि आत्मा को छट्ठे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानो में बढ़ना हो तो आर्तध्यान का सर्वथा परित्याग कर चुकने पर ही आगे बढ़ा जा सकता है। अन्यथा नहीं।

(२) हिंसा के अनुबन्ध से, झूठ के अनुबन्ध से, चोरी के अनुबन्ध से और भोगोपभोग रूप विषयों के रक्षण के अनुबन्ध से जो क्रूरतामय कुत्सित-चिंता उत्पन्न हुआ करती है, उसी का नाम-रौद्रध्यान है। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, और परिग्रह आदि रूप पाप-प्रवृत्तियों से हृदय में क्रूरता और कठोरता उत्पन्न हुआ करती है, और इस कारण से जो हृदय हीनता सूचक एव नृशसता उत्पादक चिन्ता उत्पन्न हुआ करती है, उसी को क्रम से हिंसानुबंधी-रौद्रध्यान, असत्यानुबंधी रौद्र ध्यान, स्तेयानुबंधी रौद्र ध्यान और विषय सरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान कहा जाता है।

रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं:—(१) किसी पर भी अकारण ही अल्पदोष लगाना, (२) किसी पर भी अकारण ही बहु दोष लगाना, (३) अज्ञानता रखना, और (४) मृत्यु-पर्यंत पाप का प्रायश्चित् नहीं करना।

रौद्रध्यान की स्थिति पाचवें गुणस्थान तक ही बतलाई गई है, आगे के गुण स्थानों में इसका अभाव हुआ करता है।

(३) आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय, और

संस्थान-विचय, इनकी सूक्ष्म विचारणा के लिये मनोवृत्ति को निष्ठा पूर्वक एकाग्र करना, यही धर्म ध्यान है।

(अ) वीतराग-सर्वज्ञ प्रभु की क्या आज्ञा है ? उसका विधि-निषेध रूप स्वरूप क्या है ? इस प्रकार उन आदर्श सिद्धान्तों का मनोयोग पूर्वक अनुसंधान करना, उनका चिन्तवन तथा मनन करना, एव उन उपदेशों के प्रति अपनी आत्मा को इस प्रकार संबोधित करना कि—"अरे जीव ! शुद्ध सम्यक्त्व पूर्वक श्रावक धर्म के बारह व्रतो के और ग्यारह पड़िमाओं के पालन करने की ओर प्रवृत्तिशील हो, साधु-धर्म के पाँच महाव्रतों और बारह पड़िमाओ की ओर प्रगति कर, छह काया के जीवों का संरक्षण कर, ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप तीन रत्नों की आराधना कर, चारों तीर्थों का गुणानुवाद कर, भगवान् की आज्ञा की आराधना करने में और उसका पालन करने में किंचित् मात्र भी प्रमाद मत कर।" ऐसी मनोयोग पूर्वक स्थिर चित्त वृत्ति ही "आज्ञा-विचय" नामक धर्म ध्यान है।

(आ) पाप दोषों का स्वरूप जानने के लिये और उनसे छुटकारा पाने के लिये मन को एकाग्र करके निष्ठापूर्वक विचार करना, ऐसा ध्यान ही "अपाय विचय" नामक धर्मध्यान है। इस ध्यान में आत्मा को इस प्रकार ज्ञान पूर्वक विचारणा करनी पड़ती है कि—" हे आत्मन ! मिथ्यात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय, योग, आदि अठारह पाप-स्थान के आचरण से ही तू ने अनंत दुःख पाया है. अब तो इस आश्रव मार्ग का परित्याग करके संवर धर्म की परिपालना कर, जिससे कि भविष्य में दुःख नहीं उठाना पड़े।

अपाय विचय नामक धर्मध्यान में यह विचारणा एकाग्रता पूर्वक करनी पड़ती है कि—"अज्ञान, राग, द्वेष, कषाय, आस्रव, ये मेरे धर्म नहीं हैं, मैं तो अनंतज्ञान, दर्शन, चारित्र और अनंत वीर्यशील हूँ, अज हूँ, अनादि हूँ, अनन्त हूँ, अमर हूँ, अचल हूँ, अकल हूं, अमल हूँ, अगम्य हूँ, अनामी और अरूपी हूँ, अकर्मा और अबंधक हूँ, अनुदय और अनुदीरक हूं, अयोगी और अभोगी हूँ, अभेदी और अवेदी हूँ, अछेद्य और अखेद्य हूँ, अकषायी और अलेश्या वाला हूँ, अशरीरी एव अनाहारी हूँ, अव्याबाध और अनवगाही हूँ, अगुरु-लघु तथा अपरिणामी हूं, अतीन्द्रिय और अप्राणी हूँ, अयोनि और असंसारी हूँ, अजर और अमर हूं, अव्यापी और अनाश्रित हूँ, अकप हूँ, अविरुद्ध हूँ, अनिरुद्ध हूँ, अनाश्रव और अलख हूँ, अशोकी और असंगी हूँ, लोकालोक का ज्ञाता हूँ, मैं साक्षात् अरिहंत और सिद्ध स्वरूप हूँ, मैं शुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप हूँ, मैं महान् शक्ति रूप हूँ," इस प्रकार आत्मा के मूल गुण-स्वरूपों का चिन्तन, मनन करना ही अपाय विचय नामक धर्मध्यान है।

(ङ) अनुभव में आने वाले सुख-दुख रूप कर्म-फल में से कौन-कौनसा कर्म-फल किस किस कर्म से सम्बन्ध रखता है, तथा अमुक कर्म का फल अमुक प्रकार का हुआ करता है अथवा अमुक स्वरूप वाला होना चाहिये, इस ढग का निष्ठापूर्वक और एकाग्रतामय चिन्तन-मनन आत्म-विकास की दृष्टि से करना, तथा कर्मों के उदय होने पर आत्मा के गुणों में उत्पन्न होने वाली ह्रास अथवा विकास की स्थिति का अनुसंधान करने के लिये चित्त-वृत्ति को सुस्थिर करना ही "विपाक-विचय" नामक धर्म ध्यान है।

इस ध्यान में विचार करना पड़ता है कि—"अरे जीव ! तुमने ज्ञानावरणीय आदि शुभाशुभ कर्मों की जैसी उपार्जना की है वैसा ही सुख-दुःख और संयोग-वियोग सहना पड़ता है। ऐसा समझकर किसी पर भी राग-द्वेष मत कर, समता भाव धारण कर, धर्म की आराधना कर, ऐसा करने पर ही तुझे निराबाध सुख की प्राप्ति हो सकेगी। हे जीव ! तेरे मूल आठों ही गुणों को आठों ही कर्मों ने दबाये रक्खे हैं, अतएव अपने स्वरूप को पहिचानने के लिये तू कर्म-सम्बन्धी प्रकृति बंध का, स्थिति बंध का, रस बंध का, प्रदेश बंध का, उदय का, उदीरणा का, सत्ता का और संक्रमण का सूक्ष्म विचार कर।" इस प्रकार की एकाग्रता पूर्वक विचार-धारा का नाम ही "विपाक-विचय" नामक धर्म-ध्यान है।

(ई) लोक स्वरूप की रचना का विचार करना, यही संस्थान विचय नामक धर्म ध्यान है। इस ध्यान में संपूर्ण लोक की भौगोलिक अवस्था का और इसमें रहे हुए द्रव्य-विशेषों का विचार करना पड़ता है। जैसे कि यह लोक चौदह रज्जु जितना लंबाई वाला है। जिसमें तीन भाग हैं, अधोभाग, मध्यभाग, और ऊर्ध्वभाग। अधोभाग सातवीं नरक के नीचे सात रज्जु जितना चौड़ा है, ऊपर अनुक्रम से घटते घटते सात रज्जु की ऊँचाई पर शुरू होने वाले मध्य भाग में एक रज्जु जितना ही चौड़ा है। पुनः क्रम से बढ़ते बढ़ते साढ़ा तीन रज्जु की ऊँचाई पर पांचवें देवलोक में पाँच रज्जु जितना चौड़ा है। पुनः क्रम से घटते घटते चौदह रज्जु की ऊंचाई पर सिद्ध-क्षेत्र में केवल एक रज्जु जितना ही चौडा रह गया है। इस प्रकार चौदह रज्जु की ऊंचाई वाला और ३४३ घन रज्जु के क्षेत्र फल वाला यह लोक

है। "अरे जीव ! तूं ने सम्यक्त्व पूर्वक सच्चारित्र की आराधना नहीं की इसीलिये अनन्तानन्त बार जन्म-मरण करते हुए इस संपूर्ण लोक का अनन्त वार तूंने स्पर्श किया है। ऐसा जानकर हे जीव ! अब तूं सम्यक्त्व पूर्वक सूत्र धर्म की और चारित्र धर्म की आराधना कर, लोग के अग्रभाग पर स्थित मोक्ष स्थल की प्राप्ति कर, और अजरामर रूप सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर।" इस पद्धति से निष्ठापूर्वक विचार करना सस्थान विचय नामक धर्म ध्यान है।

लोक में रहे हुए षड् द्रव्यों का और द्रव्यों के गुण-पर्यायों का चिन्तवन भी संस्थान विचय धर्म ध्यान के ही अन्तर्गत है।

धर्म ध्यान के ध्याता के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रंथों में भिन्नता देखी जाती है, श्वेताम्बर साहित्यकारों का कथन है कि सातवें गुणस्थान से लगाकर बारहवें गुणस्थान तक की श्रेणियों में धर्म-ध्यान की आराधना की जा सकती है, परन्तु दिगम्बर साहित्यकारों का मन्तव्य है कि चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक ही धर्मध्यान की संभावना हो सकती है। क्योंकि सम्यक् दृष्टि आत्मा को "उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी" के आरंभ के पूर्व तक ही धर्मध्यान की सभावना है, श्रेणी के प्रारंभ होते ही उस आत्मा का ध्यान शुक्ल ध्यान के भेद-प्रभेद के रूप में परिणित हो जाया करता है, और चूंकि श्रेणी-प्रारंभ आठवें गुणस्थान से ही हो जाया करती है, अतः आठवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में धर्मध्यान के स्थान पर शुक्ल ध्यान की संभावना ही मानी जानी चाहिये। इस प्रकार दोनों संप्रदायों के ग्रंथों में धर्मध्यान के स्वामी और अधि-

इस ध्यान में विचार करना पड़ता है कि—"अरे जीव! तुमने ज्ञानावरणीय आदि शुभाशुभ कर्मों की जैसी उपार्जना की है वैसा ही सुख-दुःख और संयोग-वियोग सहना पड़ता है। ऐसा समझकर किसी पर भी राग-द्वेष मत कर, समता भाव धारण कर, धर्म की आराधना कर, ऐसा करने पर ही तुझे निराबाध सुख की प्राप्ति हो सकेगी। हे जीव! तेरे मूल आठों ही गुणों को आठो ही कर्मों ने दबाये रक्खे हैं, अतएव अपने स्वरूप को पहिचानने के लिये तूं कर्म-सम्बन्धी प्रकृति बंध का, स्थिति बंध का, रस बंध का, प्रदेश बंध का, उदय का, उदीरणा का, सत्ता का और संक्रमण का सूक्ष्म विचार कर।" इस प्रकार की एकाग्रता पूर्वक विचार-धारा का नाम ही 'विपाक-विचय" नामक धर्म-ध्यान है।

(ई) लोक स्वरूप की रचना का विचार करना, यही संस्थान विचय नामक धर्म ध्यान है। इस ध्यान में संपूर्ण लोक की भौगोलिक अवस्था का और इसमें रहे हुए द्रव्य-विशेषों का विचार करना पड़ता है। जैसे कि यह लोक चौदह रज्जु जितना लंबाई वाला है। जिसमें तीन भाग हैं, अधोभाग, मध्यभाग, और ऊर्ध्वभाग। अधोभाग सातवीं नरक के नीचे सात रज्जु जितना चौड़ा है, ऊपर अनुक्रम से घटते घटते सात रज्जु की ऊँचाई पर शुरु होने वाले मध्य भाग में एक रज्जु जितना ही चौड़ा है। पुनः क्रम से बढ़ते बढ़ते साढ़ा तीन रज्जु की ऊँचाई पर पांचवें देवलोक में पाँच रज्जु जितना चौड़ा है। पुनः क्रम से घटते घटते चौदह रज्जु की उंचाई पर सिद्ध-क्षेत्र में केवल एक रज्जु जितना ही चौड़ा रह गया है। इस प्रकार चौदह रज्जु की उंचाई वाला और ३४३ घन रज्जु के क्षेत्र फल वाला यह लोक

है। "अरे जीव ! तूं ने सम्यक्त्व पूर्वक सच्चारित्र की आराधना नहीं की इसीलिये अनन्तानन्त बार जन्म-मरण करते हुए इस संपूर्ण लोक का अनन्त बार तूंने स्पर्श किया है। ऐसा जानकर हे जीव ! अब तूं सम्यक्त्व पूर्वक सूत्र धर्म की और चारित्र धर्म की आराधना कर, लोग के अग्रभाग पर स्थित मोक्ष स्थल की प्राप्ति कर, और अजरामर रूप सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर।" इस पद्धति से निष्ठापूर्वक विचार करना सस्थान विचय नामक धर्म ध्यान है।

लोक में रहे हुए षड् द्रव्यों का और द्रव्यों के गुण-पर्यायों का चिन्तवन भी संस्थान विचय धर्म ध्यान के ही अन्तर्गत है।

धर्म ध्यान के ध्याता के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रंथों में भिन्नता देखी जाती है, श्वेताम्बर साहित्यकारों का कथन है कि सातवें गुणस्थान से लगाकर बारहवें गुणस्थान तक की श्रेणियों में धर्म-ध्यान की आराधना की जा सकती है, परन्तु दिगम्बर साहित्यकारों का मन्तव्य है कि चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक ही धर्मध्यान की संभावना हो सकती है। क्योंकि सम्यक् दृष्टि आत्मा को "उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी" के आरंभ के पूर्व तक ही धर्मध्यान की सभावना है, श्रेणी के प्रारंभ होते ही उस आत्मा का ध्यान शुक्ल ध्यान के भेद-प्रभेद के रूप में परिणित हो जाया करता है, और चूंकि श्रेणी-प्रारंभ आठवें गुणस्थान से ही हो जाया करती है, अतः आठवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में धर्मध्यान के स्थान पर शुक्ल ध्यान की संभावना ही मानी जानी चाहिये। इस प्रकार दोनों संप्रदायों के ग्रंथों में धर्मध्यान के स्वामी और अधि-

कारी के संबंध में उपरोक्त ढंग से भिन्नता पाई जाती है, सो ध्यान में रहे।

धर्मध्यानी के चार लक्षण होते हैं:—(१) आणारुई-आज्ञारुचि, (२) निसग्गरुई-निसर्गरुचि, (३) सुत्तरुई-सूत्ररुचि, और (४) उवएसरुई-उपदेश रुचि।

(१) अरिहंत भगवान् की आज्ञानुसार क्रिया करने की रुचि होना आज्ञा रुचि है।

(२) अपने आप ही याने स्वभाव से ही और बिना किसी की प्रेरणा से ही सूत्रधर्म और चारित्रधर्म के अनुसार क्रिया करने की रुचि होना निसर्ग रुचि है।

(३) शास्त्र एव सूत्र ग्रथों के पढ़ने या सुनने की रुचि होना सूत्र रुचि है।

(४) गुरु आदि पूजनीय पुरुषों के उपदेश से धर्म-क्रिया की ओर एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-भावना के आराधन की ओर रुचि होना उपदेश रुचि है। जैसे कि:—

(अ) अज्ञान से उपार्जन किये हुए कर्मों का ज्ञानबल से क्षय करना और ज्ञान-शक्ति से नूतन कर्मों का बंधन नहीं करना।

(आ) मिथ्यात्व से उपार्जन किये हुए कर्मों का सम्यक्त्व के बल से नाश करना और सम्यकत्व की आराधना करके नये कर्मों का बंधन नहीं होने देना।

(इ) अव्रत से उपार्जन किये हुए कर्मों का, व्रतों का आचरण करके नाश करना और व्रतों के आचरण से नये कर्मों को नहीं आने देना।

(ई) प्रमाद से उपार्जन किये हुए कर्मों को अप्रमाद द्वारा नष्ट करना और अप्रमाद द्वारा नये कर्मों का बंधन नहीं होने देना।

(उ) कषाय से उपार्जन किये हुए कर्मों को अकषाय द्वारा क्षीण करना और अकषायवृत्ति द्वारा नये कर्मों का द्वार बंद कर देना।

(ऊ) योग से उपार्जन किये हुए कर्मों को योगप्रवृत्ति का नियत्रण कर के क्षीण करना और योगों के नियंत्रण द्वारा नये कर्मों को नहीं आने देना।

(ए) पांचों इन्द्रियों की विषय सबंधी लुब्धता रूप आश्रव से उपार्जन किये हुए कर्मों को संवर द्वारा नष्ट करना और संवर की आराधना से नये कर्मों का बधन नहीं होने देना।

इस प्रकार वीतराग-वाणी के उपदेश से धर्म-भावनाओं की ओर रुचि जागृत होना उपदेश रुचि है।

धर्म ध्यान के चार अवलंबन कहे गये हैं:—

(१) वायणा=वाचना, (२) पुच्छणा=पृच्छना, (३) परियट्टणा=परिवर्त्तना, और (४) धम्मकहा=धर्म कथा।

(अ) गुरु आदि ज्ञानी-गीतार्थ के चरण कमलों मे विनय और भक्ति पूर्वक बैठकर एवं नम्रता आदि गुणों द्वारा उनके चित्त में समाधि उत्पन्न करते हुए सूत्र, अर्थ आदि विविध ज्ञान-ग्रंथों का पठन-पाठन करना, यही "वाचना" नामक धर्म-ध्यान है।

(आ) नूतन ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से, असाधारण एवं गूढ़ ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से, उत्पन्न संदेह को निवारण करने की दृष्टि से, विनय-भक्ति पूर्वक प्रश्न आदि पूछना, शंकाओं का समाधान करना, तत्त्व निर्णय की बुद्धि से वाद-विवाद करना, यही "पच्छना" नामक धर्म-ध्यान है।

(इ) पठित सूत्र. अर्थ संबंधी सिद्धान्त ग्रंथों का, तात्त्विक और दार्शनिक ग्रंथों का, निर्जरा के लिये और सदैव स्मृतिरूप में रखने के लिये वार वार पठन-पाठन करना, उपयोग पूर्वक उनकी पुनरावृत्ति करते रहना, यही "परिवर्त्तना" नामक धर्मध्यान है।

(ई) गुरु आदि ज्ञानी पुरुषों से जैसा सूत्र-अर्थ आदि का ज्ञान ग्रहण किया हो, उसी का अपनी ज्ञान-शक्ति द्वारा हेतु और दृष्टान्तों के साथ निर्जरा के लिये, परोपकार के लिये, शंका-आकांक्षा आदि दोषों का परिहार करते हुए द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव के अनुसार व्याख्यान द्वारा प्रतिपादन करना, एवं व्याख्यानों द्वारा वक्ता और श्रोता दोनों को ही वीतराग प्रभु की आज्ञा का आराधक बनाना, यही "धर्म-कथा" नामक धर्मध्यान है।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ बतलाई गई हैं:—(१) अणिचाणुप्पेहा-अनित्यानुप्रेक्षा, (२) असरणाणुप्पेहा-अशरणानुप्रेक्षा, (३) एगत्ताणुप्पेहा-एकत्वानुप्रेक्षा, और (४) ससाराणुप्पेहा-संसारानुप्रेक्षा।

(अ) षट् द्रव्यरूप लोक का तात्त्विक दृष्टि से विचार

करने पर ज्ञात होता है कि ध्रौव्यरूप से सभी द्रव्य अपने अपने गुणों के रूप में नित्य धर्म-वाले होते हुए अनादि अनन्त रूप हैं, परन्तु निरन्तर स्वाभाविक और वैभाविक पर्यायों के उत्पन्न होते रहने के कारण से वे ही द्रव्य उत्पाद-व्यय-रूप भी हैं, इस प्रकार इस दृष्टिकोण से वे द्रव्य अनित्य धर्म वाले भी हैं, इस सिद्धान्तानुसार पुद्गलों से निर्मित यह शरीर, वस्त्र,आभूषण, पुत्र, पिता,-पत्नी आदि पारिवारिक पुरुष, घर-मकान आदि सभी पदार्थ क्षण-क्षण में पलटते हुए नाश हुआ करते हैं, इनका दुःख जनक वियोग हुआ करता है, ऐसा प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई पड़ने पर भी जो आत्मा अज्ञानवश इन पर आसक्तिमय ममता-भाव रखता है, वह दुःख ही पाता है, ऐसा सम्यक्त्व पूर्वक समझकर अनित्यशील एवं वियोगशील पदार्थों के प्रति रहे हुए अपने ममत्व-भाव का परित्याग करेगा, तथा आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप रूप गुणों के प्रति आदर-भाव तथा विकासक-भाव रखेगा, वही आत्मा परमपद को प्राप्त कर सकेगा। इस प्रकार "अनित्य-धर्म" के आधार पर अपनी आत्मा के विचारों को प्रेरित करना ही "अनित्यानुप्रेक्षा" है।

(आ) क्षण क्षण में परिवर्तन होने वाले इस विशाल विश्व में अनादि अनंत काल से परिभ्रमण करने वाले इस आत्मा के लिये धन, जन, वैभव, स्वजन, परिजन, आदि कोई भी पदार्थ न तो शरण देने वाला है और न दुःख-पीड़ा को ही दूर कर सकने वाला है, दुःख-पीड़ा से ग्रसित यह अज्ञानी जीव अपने आप को दुःख से विमुक्त करने के लिये जिनकी शरण लेना चाहता है, वे दीन हीन प्राणी जब स्वयमेव दुःखों से प्रपीड़ित हैं, तो फिर वे इष्ट सहायता कैसे प्रदान कर सकते हैं? इसी प्रकार

वास्तविक अर्थों में यह आत्मा न तो दूसरों की सहायता करने में समर्थ है और न दूसरे प्राणी ही इसकी सहायता कर सकते हैं। सभी को अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सांसारिक सुख-दुःख अवश्यमेव भोगना ही पड़ता है। इसलिये हे आत्मन्! यदि तुझे वास्तविक सुख प्राप्त करना ही है तो "अरिहंत, सिद्ध साधु और दया धर्म" की शरण स्वीकार, ऐसा करने पर ही तूं छह ही काया के जीवों का संरक्षक हो सकेगा एवं सभी प्रकार के दुःखों से परिमुक्त होकर वास्तविक सुख का भागी बन सकेगा। इस प्रकार की विवेक पूर्वक धर्म-ध्यान संबंधी अनु-भावना ही "अशरणानुप्रेक्षा" है।

(इ) आत्म-विकास और आत्म-शांति के लिये आत्मा को इस प्रकार से ध्यानानुबंधित संबोधन करना कि—"हे मेरे ईश्वर-स्वरूप आत्मन्! तूं अकेला है, सभी पुद्गलों से भिन्न और स्वतंत्र है, न तो तूं स्वयम् किसी दूसरे का है और न कोई दूसरे ही तेरे हैं, इस परिवर्तनशील संसार-समुद्र में परिभ्रमण करते करते और जन्म-मरण के चक्कर में फंसते फंसते हाट के मेले की तरह थोड़े समय के लिये एक दूसरे का मिलना हो जाया करता है, कोई पति के रूप में, कोई पत्नि के रूप में, कोई माता-पिता के रूप में, कोई भाई-बहिन के रूप में, कोई पुत्र-पुत्री के रूप में, इत्यादि रूप से कृत्रिम-तौर पर अल्प-कालीन संयोग प्राप्त हो जाया करता है, परन्तु अति शीघ्र ही पुनः घोर, विषम, वियोग जनित दुःख उठाना पड़ता है। मृत्यु की प्राप्ति होते ही एक दूसरे को एक दूसरा सर्वथा भूल जाता है, कोई किसी को नहीं पहचानता है, इसलिये ऐसा जानकर हे अनन्त शक्ति संपन्न आत्मन! तूं गंभीर रूप से विचार कर कि—"मैं अकेला ही

मरता हूँ, अपने किये हुए कर्मों के सुख-दुःख आदि रूप फलों का भोक्ता भी मैं अकेला ही हूँ, मेरे सुख दुःखों का कर्त्ता भी मैं ही हूँ, भोक्ता भी मैं ही हूँ, और हर्त्ता भी मैं ही हूं, मैं स्वयं अरिहन्त रूप हूँ और साक्षात् सिद्ध समान ही हूँ, मैं सत्‌रूप हूँ, चिद्-रूप हूँ और आनन्दरूप हूँ, परिणामतः मैं निराबाध अनन्त शक्ति संपन्न परमात्मा रूप ही हूँ।" ऐसी गंभीर अनुसंधानात्मक धर्म-ध्यानमय भावना ही "एकत्वानुप्रेक्षा" है।

(ई) संसार-तृष्णा से परिमुक्त होने के लिये सांसारिक पदार्थों के प्रति उदासीन भावना और वैराग्य भावना लाना अति आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण का साधन के लिये ऐसा चिन्तन करना कि—"निरन्तर संसरण होते रहने का नाम ही ससार है, इसके भेद अभेद रूप चार गति, चौबीस दंडक, और चौरासी लाख जीव योनियों में यह आत्मा अनन्त पुद्‌गल परावर्तन काल तक परिभ्रमण करता रहा है, और इस भ्रमण-काल में इस अज्ञानी आत्मा ने अनन्तानन्त दुःखों का कटु अनुभव किया है, फिर भी न तो उन दुःखों से ही छुटकारा मिला है और न सम्यक्त्व की ही प्राप्ति हुई है। क्योंकि अभी तक हे आत्मन्! तू संसार मे परिभ्रमण कराने वाले आरंभ-परिग्रहमय कामों में और तृष्णा में फंसा हुआ है, अतएव सभल जा और विचार कर कि—"इस विश्व की कैसी विचित्र परिस्थिति है कि चक्रवर्ती जैसे महापुरुष और इन्द्र महाराज जैसे देवता भी शुभ कर्मों के उदय होते ही नरक-तिर्यंच आदि दुःखप्रद गतियों में गिर जाया करते हैं, तो फिर हे जीव! तेरी तो गणना ही क्या है? ऐसा जान कर और संसार से पार होने का शुभ प्रसंग प्राप्त कर सावधान हो जा।"

वास्तविक अर्थों में यह आत्मा न तो दूसरों की सहायता करने में समर्थ है और न दूसरे प्राणी ही इसकी सहायता कर सकते हैं। सभी को अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सांसारिक सुख-दुःख अवश्यमेव भोगना ही पड़ता है। इसलिये हे आत्मन्! यदि तुझे वास्तविक सुख प्राप्त करना ही है तो "अरिहंत, सिद्ध साधु और दया-धर्म" की शरण स्वीकार, ऐसा करने पर ही तूं छह ही काया के जीवों का सरक्षक हो सकेगा एवं सभी प्रकार के दुःखों से परिमुक्त होकर वास्तविक सुख का भागी बन सकेगा। इस प्रकार की विवेक पूर्वक धर्म-ध्यान सबंधी अनु-भावना ही "अशरणानुप्रेक्षा" है।

(३) आत्म-विकास और आत्म-शांति के लिये आत्मा को इस प्रकार से ध्यानानुबंधित सबोधन करना कि—"हे मेरे ईश्वर-स्वरूप आत्मन्! तूं अकेला है, सभी पुद्गलों से भिन्न और स्वतंत्र है, न तो तूं स्वयम् किसी दूसरे का है और न कोई दूसरे ही तेरे हैं, इस परिवर्तनशील संसार-समुद्र मे परिभ्रमण करते करते और जन्म-मरण के चक्कर मे फंसते फंसते हाट के मेले की तरह थोड़े समय के लिये एक दूसरे का मिलना हो जाया करता है, कोई पति के रूप में, कोई पत्नि के रूप में, कोई माता-पिता के रूप में, कोई भाई-बहिन के रूप में, कोई पुत्र-पुत्री के रूप में, इत्यादि रूप से कृत्रिम-तौर पर अल्प-कालीन संयोग प्राप्त हो जाया करता है, परन्तु अति शीघ्र ही पुनः घोर, विषम, वियोग जनित दुःख उठाना पड़ता है। मृत्यु की प्राप्ति होते ही एक दूसरे को एक दूसरा सर्वथा भूल जाता है, कोई किसी को नहीं पहचानता है, इसलिये ऐसा जानकर हे अनन्त शक्ति सपन्न आत्मन्! तूं गभीर रूप से विचार कर कि—"मैं अकेला ही

द्रव्य में से या जीव रूप चेतन द्रव्य में से किसी भी एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, व्यय, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, आदि अनेक पर्यायों का, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिकनय आदि विविध नयों के द्वारा भेद-प्रधान दृष्टि से एकाग्रता पूर्वक विचार करता है, और उपस्थित श्रत ज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य रूप पदार्थ पर से दूसरे द्रव्य रूप पदार्थ पर, अथवा एक द्रव्य रूप पदार्थ पर से पर्याय रूप अन्य पदार्थ पर, अथवा एक पर्याय रूप पदार्थ पर से अन्य पर्याय रूप पदार्थ पर, या एक पर्याय रूप पदार्थ पर से अन्य द्रव्य रूप पदार्थ पर, अनुचिन्तन के लिये प्रवृत्त होता है, तथा इसी प्रकार से अर्थ पर से, शब्द पर से अर्थ पर अनुचिन्तन के लिये प्रवृत्ति करता है, तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोड़कर अन्य किसी भी एक योग का संक्रमण रूप से आश्रय लेता है, ऐसा ध्यान ही पृथक्त्व वितर्क सविचार नामक शुक्ल ध्यान कहलाता है।

(आ) जब कोई ध्यान करने वाला महात्मा ऊपर बताई हुई पद्धति के अनुसार संक्रमणात्मक एव क्रमिक विचार-धारा का आलंबन नहीं लेता है, बल्कि अपने में उपस्थित श्रुत ज्ञान के आधार पर किसी भी एक ही पर्याय रूप अर्थ को आधार बनाकर उस पर एकत्व दृष्टि से याने अभेद प्रधान दृष्टि से चिन्तन रूप ध्यान करता है, एव मन, वचन, काया रूप तीनों योगों में से किसी भी एक ही योग पर सुस्थिर रहकर शब्द पर से अर्थ पर अथवा अर्थ पर से शब्द पर परिवर्त्तन नहीं करता है और भिन्न भिन्न योगों पर भी संक्रमण नहीं करता है, ऐसा ध्यान ही एकत्व-वितर्क अविचार ध्यान है। इस प्रकार इस ध्यान में श्रुत ज्ञान की बिचारधारा का मूलभूत आधार होने

"हे सच्चिदानंदस्वरूप आत्मन् ! इस समय में तुझे मनुष्य जन्म, आर्य-क्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की परिपूर्णता, शरीर की आरोग्यता, सद्गुरु का योग, शास्त्र-श्रवण, जिन-वचनों की आराधना, और धर्म करने की शक्ति; इस प्रकार से दश अमूल्य बोलों की प्राप्ति हुई है; अतएव इनका सदुपयोग कर; धर्म-मार्ग में पराक्रम का विकास कर, ऐसा करने पर ही संसार-समुद्र से पार हो सकेगा तथा सुखी बन सकेगा।"

घोर दुःख मय इस संसार मे राग, द्वेष और मोह से परिलिप्त प्राणी विषय-कषाय के कारण से और एक दूसरे को हड़प जाने की नीति से असह्य दुःखों का अनुभव निरन्तर किया करते हैं, तदनुसार सही अर्थों में यह ससार हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, सयोग-वियोग, संपत्ति-विपत्ति आदि द्वन्द्वों का उपवन मात्र ही है, तथा घोर कष्टमय ही है" ऐसी आन्तरिक सहृदयतापूर्ण, निर्वेद गुणयुक्त, धर्म-ध्यानमय भावना ही "ससारानुप्रेक्षा" है।

(४) शुक्ल ध्यान—इसके चार चरण कहे गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं:—(१) पृथक्त्व वितर्क सविचार, (२) एकत्व वितर्क निर्विचार, (३) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती, और (४) व्युपरत क्रिया-निवृति अथवा समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति।

(अ) जब कोई ध्यान करने वाला गुणशील आत्मा पूर्व ज्ञान का धारक हो, ऐसी अवस्था में पूर्व ज्ञान संबंधी श्रुत ज्ञान के आधार पर अथवा पूर्व धर नहीं होने की हालत में जैसा भी श्रुत ज्ञान है, उसके आधार पर किसी भी परिमाणु आदि अचेतन

द्रव्य में से या जीव रूप चेतन द्रव्य में से किसी भी एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, व्यय, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, आदि अनेक पर्यायों का,द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिकनय आदि विविध नयों के द्वारा भेद-प्रधान दृष्टि से एकाग्रता पूर्वक विचार करता है, और उपस्थित श्रत ज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य रूप पदार्थ पर से दूसरे द्रव्य रूप पदार्थ पर, अथवा एक द्रव्य रूप पदार्थ पर से पर्याय रूप अन्य पदार्थ पर, अथवा एक पर्याय रूप पदार्थ पर से अन्य पर्याय रूप पदार्थ पर, या एक पर्याय रूप पदार्थ पर से अन्य द्रव्य रूप पदार्थ पर, अनुचिन्तन के लिये प्रवृत्त होता है, तथा इसी प्रकार से अर्थ पर से, शब्द पर से अर्थ पर अनुचिन्तन के लिये प्रवृत्ति करता है, तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोड़कर अन्य किसी भी एक योग का सक्रमण रूप से आश्रय लेता है, ऐसा ध्यान ही पृथक्त्व वितर्क सविचार नामक शुक्ल ध्यान कहलाता है।

(आ) जब कोई ध्यान करने वाला महात्मा ऊपर बताई हुई पद्धति के अनुसार संक्रमणात्मक एव क्रमिक विचार-धारा का आलंबन नहीं लेता है, वल्कि अपने में उपस्थित श्रुत ज्ञान के आधार पर किसी भी एक ही पर्याय रूप अर्थ को आधार वनाकर उस पर एकत्व दृष्टि से याने अभेद प्रधान दृष्टि से चिन्तन रूप ध्यान करता है, एव मन, वचन, काया रूप तीनों योगों में से किसी भी एक ही योग पर सुस्थिर रहकर शब्द पर से अर्थ पर अथवा अर्थ पर से शब्द पर परिवर्त्तन नहीं करता है और भिन्न भिन्न योगों पर भी संक्रमण नहीं करता है, ऐसा ध्यान ही एकत्व-वितर्क अविचार ध्यान है। इस प्रकार इस ध्यान में श्रुत ज्ञान की बिचारधारा का मूलभूत आधार होने

पर भी अर्थ, शब्द, पर्याय, द्रव्य, और योगों पर क्रमिक पद्धति से भी ध्यान रूप शक्ति का संक्रमण नहीं हुआ करता है, बल्कि एकत्व दृष्टिकोण का ही याने अभेद प्रधान दृष्टिकोण का ही चिन्तन रूप प्राधान्य रहता है।

ऊपर बताये हुए दोनों ध्यान में से प्रथम ध्यान में तो संक्रमणात्मक भेद-प्रधान विचारधारा रहती है, जब कि द्वितीय ध्यान में एकत्वरूप अभेद प्रधान विचारधारा का अस्तित्व हुआ करता है। भेद प्रधान ध्यान की साधना कर लेने पर ही अभेद प्रधान ध्यान करने की शक्ति उत्पन्न हुआ करती है। जैसे अस्त-व्यस्त रीति से बिखरते हुए एव फैले हुए कपड़ों की सुव्यवस्थित और सुन्दर गठरी बांधने के लिये सर्व प्रथम प्रत्येक कपड़े को एक निर्धारित आकृति के रूप में समेटना पड़ता है तत्पश्चात् क्रमवार उनको एक तरह के रूप में स्थापित करना पडता है, इतनी क्रमिक क्रिया करने पर ही वे सब कपड़े एक व्यवस्थित और मनोरम आकृति के रूप में परिणित हो जाया करते हैं. इसी प्रकार से विश्व के अनेकानेक विषयों पर बेतरतीब से और अस्थिर रूप से भटकते हुए मन को ध्यान रूप साधना के द्वारा किसी भी एक विषयपर संयुक्त करके स्थिर किया जाता है, एवं जब ऐसी साधना द्वारा मन को स्थिर करने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तो मन की चंचलता और अशांति मिट जाती है, और इसका फल यह होता है कि चारों घनघाती कर्म का याने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म का जड़ मूल से तथा आत्यतिक रूप से क्षय हो जाया करता है, एवं केवलज्ञान-केवलदर्शन रूप अरिहंत-अवस्था प्राप्त हो जाया करती है।

"पृथक्त्व वितर्क सविचार" का शब्दार्थ इस प्रकार है:— पृथक्त्व याने अलग अलग रूप से. एक निश्चित पद्धति के अनुसार क्रमिक संक्रमणात्मक शैली से, वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान, और सविचार याने सम्य रूप वाली विकल्पधारा। सारांश यह हुआ कि—"श्रुतज्ञान का आधार लेकर एक निश्चित पद्धति के अनुसार क्रमिक संक्रमणात्मक शैली से द्रव्य अथवा पर्याय संबंधी सम्य रूप वाली विकल्पधारा ही "पृथक्त्व वितर्क सविचार" नामक ध्यान शुक्ल ध्यान का प्रथम चरण है।

इस ध्यान में तीनों योगों की सतत् प्रवृत्ति पाई जाती है, तथा उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुण स्थान का स्वामी और क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थान का स्वामी इस ध्यान का ध्याता हुआ करता है। "एकत्व वितर्क निर्विचार" का शब्दार्थ इस प्रकार है:—एकत्व का रहस्य यही है कि इसमें एक ही पर्याय की अथवा एक ही द्रव्य की पर्यालोचना हुआ करती है, विकल्पों का सङ्क्रमण और विचारो का प्रवाह इस ध्यान में नहीं हुआ करता है, इसीलिये इस ध्यान की नाम-रचना में "निर्विचार" शब्द जुडा हुआ है, परन्तु मन की शक्तियो को केन्द्रित करने के लिये ध्यान-साधना में "श्रुत-ज्ञान" का आधार अवश्य रहता ही है, इसलिये "वितर्क" शब्द जुड़ा हुआ है, जो कि श्रुत ज्ञान का वाचक है।

(३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान—यह ध्यान सयोगी केवली भगवान् के हुआ करता है, जो कि तेरहवें गुणस्थान के स्वामी हुआ करते हैं, वे सर्वज्ञ प्रभु जब मन, वचन, और काया सम्बन्धी स्थूल योगों का सूक्ष्म काम-योग द्वारा संरोध कर देते

हैं,और जब श्वास-उच्छ्वास जैसी सूक्ष्म और कषाय रहित क्रिया ही बाकी रह जाती है,एवं जिसमें से पतन होने की संभावना भी नहीं रहती है, ऐसी आदर्श अवस्था में उत्पन्न होने वाली आत्म-शक्ति की अचंचलता का और निस्पंदता का नाम ही "सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती" नामक शुक्ल ध्यान है।

योगों के निरोध करने का क्रम शास्त्रों में इस प्रकार बतलाया है कि:— सर्व प्रथम स्थूल काय योग का आश्रय लेकर वचन और मन संबन्धी स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, तत्पश्चात् वचन और मन संबंधी बनाये हुए सूक्ष्म योग का आश्रय लेकर वचन और मन संबंधी सूक्ष्म योग का भी निरोध कर लिया जाता है, और अन्त में शेष सूक्ष्म शरीर योग का भी संरोध कर लिया जाता है।

सर्वज्ञानी एव सर्व दर्शनी प्रभु के इस ढंग की ध्यानावस्था होने के कारण से और कषायशील स्थिति होने के कारण से कर्म-बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाया करता है, और इसीलिये इन द्वारा की जाने वाली चलने फिरने, उठने-बैठने, बोलने और खाने पीने रूप क्रिया ईर्यापथिकी क्रिया कहलाती है, जो कि कषाय रहित होने के कारण से कर्म-स्थिति का एवं कर्म-अनु-भाग रूप विपाक बंध का बंधन कराने में सर्वथा असमर्थ हुआ करती है। यह ध्यान अप्रतिपाती याने अपडिवाइ होता है, उत्पन्न होकर कभी वह नष्ट नहीं होता है, तथा शरीरान्त होने पर निश्चित रूप से मोक्ष का दाता होता है।

(ई) समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति ध्यान का तात्पर्य यह है

कि जब शारीरिक श्वास-उच्छ्वास आदि सामान्य एवं सूक्ष्म क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं और आत्म-प्रदेश भी सब प्रकार से निस्पंद और सुशान्त हो जाते हैं, और जब स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी प्रकार की मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रिया भी नहीं होती है, एवं जो एक बार उत्पन्न होकर बाद में लय नहीं होवे और जिसके प्राप्त होने पर सभी प्रकार के आस्रव तथा बंध सर्वथा रुक जाया करते हैं, जिसके प्रभाव से शेष बचे हुए नाम-कर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्म और आयुकर्म नामक अघातिकर्म भी आत्यंतिक रूप से क्षीण हो जाते हैं, एव अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति हो जाया करती है। इस प्रकार का जो सर्वोत्कृष्ट ध्यान होता है, उसे ही 'समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान'' कहा जाता है।

शुक्ल ध्यान के इस तीसरे और चौथे चरण में किसी भी प्रकार से श्रुतज्ञान का आधार नहीं हुआ करता है, अतः ये दोनों अनालंबन रूप ध्यान हुआ करते हैं।

शुक्लध्यान के चार लक्षण होते हैं:—विवेक, व्युत्सर्ग, अवस्थित और अमोह।

(अ) बाह्य और आभ्यंतर ग्रंथिरूप एव परिग्रह रूप संयोगो से अलग रहना, एकाकी रूप आत्मभाव में ही निर्लिप्त रूप से विचार करते रहना, प्राणान्त संकट जैसे परिषह तथा उपसर्ग आने पर भी विशुद्ध परिणामों में किंचित् मात्र भी मैलापन नहीं आने देना, अपने त्याग, संयम, यम, नियम, आदि रूप चारित्र में चंचलता उत्पन्न नहीं होने देना, विवेक का लक्षण है। यही विवेक धर्म है।

(आ) सर्वथा प्रकार से राग-द्वेष का क्षय करके सभी सद्गुणो का विकास करना, ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप तीनों रत्नों से संपन्न होना, यही व्युत्सर्ग का लक्षण है।

(इ) आत्मा की अनन्त शक्ति का संविकास करके मन, वचन, और काया रूप तीनो योगो को मेरुपर्वत के समान अडोल तथा सुस्थिर करना, यही अवस्थित धर्म का लक्षण है।

(ई) मोहरूप भीषण पापकर्म का सर्वथा और आत्यंतिक रूप से समूल नाश करना, सांसारिक भोगोपभोग रूप पुद्गलो से किसी भी प्रकार का परिचय और संबंध नहीं रखना, यही असोह का लक्षण है।

शुक्लध्यान के चार अवलम्बन कहे गये है:—

(१) खंति-क्षान्ति-क्षमा, (२) मुत्ति-मुक्ति-निर्लोभत्व, (३) अज्जव-आर्जव-सरलता, (४) मद्दव-मार्दव-नम्रता।

(अ) क्षमाशीलता, महान् शान्त स्वभावत्व, विकार के हेतु और कारण उपस्थित होने पर भी अपनी शान्त विचार धारा में और समता रूप प्रकृति मे अंशमात्र भी विकार नहीं आने देना, यही क्षमा धर्म है।

(आ) महान् निर्लोभत्व, निष्तृष्णा, निर्वांछत्व, तथा इन्द्रियों के लिये मोहक, आकर्षक और मनोरम भोग पदार्थों के प्रति वमन किये हुए आहार के समान कदापि भी लालसा उत्पन्न नहीं होने देना, यही मुक्ति याने निर्लोभत्व धर्म है।

(इ) महती निरभिमानता, निरहंकारता, ममतारहितता, और अत्यंत विनयशीलता, यही मार्दव याने नम्रता रूप विनय-धर्म है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं:—(१) अपायानुप्रेक्षा, (२) अशुभानुप्रेक्षा. (३) अनंतवर्त्ती-अनुप्रेक्षा, और (४) विपरिणामानुप्रेक्षा।

(अ) मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग इन पांचो अपायरूप आस्रव-कारणों को सर्वथा क्षीण करके क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र, अप्रमादत्व, अकषायत्व और सुस्थिर योगत्वरूप पाँचों आत्मगुणो का परिपूर्ण विकास करना, यही अपायानुप्रेक्षा है।

(आ) "व्यवहार में प्रवृत्ति और निश्चय में निज आत्म-गुणों के प्रति आस्था रखना" इस सिद्धान्त को मानते हुए अशुभ संयोगों से सदा और सर्वथा दूर रहना तथा एक आत्म-तत्त्व में ही सदैव तल्लीन रहना, यही अशुभानुप्रेक्षा है।

(इ) अनन्त संसार में परावर्त्तन करने की रीति से तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सूक्ष्म एवं बादर पुद्गल परा-वर्त्तन से निवृत्त होकर एकान्त रूप से मोक्ष के प्रति ही प्रवृत्ति करना, यही अनन्तवर्त्ती अनुप्रेक्षा है।

(ई) पुद्गलों के प्रति आकर्षण रूप स्वभाव से सर्वथा निवृत्त होकर आत्मा के मूल गुणों में ही चिन्तनरूप प्रवृत्ति करते रहना और उसी में ही आनन्द रूप अनुभव करते रहना,

तथा अव्याबाध सुख में ही तल्लीन रहना, यही विपरिणामानु-प्रेक्षा है।

ध्यान संबंधी सामान्य समीक्षा

जैन साहित्य में शारीरिक संघटना छह प्रकार की कही गई है, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) वज्रर्षभनाराचसंहनन, (२) ऋषभनाराचसंहनन, (३) नाराचसंहनन, (४) अर्धनाराच-संहनन, (५) कीलिकासंहनन और (६) सेवार्तसंहनन।

इन छह में से प्रथम तीन संहनन ही उत्तम गिने जाते हैं, और जो उत्तम संहनन वाला होता है, वही ध्यान की भलीभाँति साधना कर सकता है। क्योंकि ध्यान-साधना में मानसिक-शक्ति की सतुलना और सुदृढ़ता की आवश्यकता हुआ करती है, उसी पुरुष की मानसिक-शक्ति संतुलित और सुदृढ़ रह सकती है जिसका कि शारीरिक संगठन स्वस्थ एवं सुदृढ हो, अतएव उत्त प्रथम तीन संहनन वाले पुरुषों के लिये ध्यान की आराधन सुगम एवं सुदीर्घ कालीन हो सकती है।

सामान्य शारीरिक स्थिति वाला मन की विचारधारा को नियत समय तक और नियत विषय पर एकाग्रता पूर्वक स्थिर नहीं रह सकता है, बहुत जल्दी जल्दी बिना किसी नियम के उसकी विचारधारा अनेक विषयों को छूती रहती है, अतएव ऐसी विचारधारा भिन्न भिन्न दिशाओं में से बहती हुई वायु के बीच रही हुई दीपक के शिखा की तरह अस्थिर हुआ करती है,

तदनुसार अनेक विषय को छूने वाली विचार-धारा को व्यवस्थित करके एवं उसको कुछ निश्चित नियमों के आधार पर मर्यादित करके निश्चित समय तक एक विषयानुगामिनी बना देना ही ध्यान है। चूंकि ध्यान की आवश्यकता छद्मस्थ आत्मा के लिये ही आवश्यक है, अतः ध्यान की स्थिति बारहवें गुणस्थान तक ही कही गई है।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मोह के आत्यंतिक क्षय हो जाने से एवं केवलज्ञान-केवल दर्शन के उत्पन्न हो जाने के कारण से चित्त की अस्थिरता सर्वथा नष्ट हो जाया करती है, एवं विचारणीय वस्तु-विषय भी अवशिष्ट नहीं रहता है, तथा योगों की चंपलता भी सर्वथा नष्ट हो जाती है, अतः इन गुण-स्थानवर्ती आत्माओं के लिये ध्यान-साधना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है, किन्तु उनकी ज्ञान शक्ति सदैव के लिये निराबाध और अव्याबाध रीति से एक समान ही रहने के कारण से औपचारिक रूप से उनमें ध्यान-स्थिति मान ली गई है, जो कि "सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान" और "समुच्छिन्न क्रिया-निवृत्ति ध्यान" के नाम से कही जाती है। छद्मस्थ के लिये ध्यान संबधी काल-मर्यादा अन्तर्मुहूर्त्त की ही बतलाई गई है, क्यों कि शारीरिक एवं मानसिक बल परिमित होने के कारण से अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय तक किसी भी एक विषय पर मन की धारा को एकाग्र बनाये रखना कठिन है।

श्वास-उच्छ्वास को रोकना ध्यान नहीं है, परन्तु किसी भी एक विषय पर अन्त करण की वृत्ति की स्थापना करना ही

तथा अव्याबाध सुख में ही तल्लीन रहना, यही विपरिणामानुप्रेक्षा है।

ध्यान संबंधी सामान्य समीक्षा

जैन साहित्य में शारीरिक संघटना छह प्रकार की कही गई है, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) वज्रर्षभनाराचसंहनन, (२) ऋषभनाराचसंहनन, (३) नाराचसंहनन, (४) अर्धनाराच-संहनन, (५) कीलिकासंहनन और (६) सेवार्तसंहनन।

इन छह में से प्रथम तीन संहनन ही उत्तम गिने जाते हैं, और जो उत्तम संहनन वाला होता है, वही ध्यान की भलीभाँति साधना कर सकता है। क्योंकि ध्यान-साधना में मानसिक-शक्ति की संतुलना और सुदृढ़ता की आवश्यकता हुआ करती है, उसी पुरुष की मानसिक-शक्ति संतुलित और सुदृढ़ रह सकती है, जिसका कि शारीरिक संगठन स्वस्थ एवं सुदृढ हो, अतएव उक्त प्रथम तीन संहनन वाले पुरुषों के लिये ध्यान की आराधना सुगम एवं सुदीर्घ कालीन हो सकती है।

सामान्य शारीरिक स्थिति वाला मन की विचारधारा को नियत समय तक और नियत विषय पर एकाग्रता पूर्वक स्थिर नहीं रह सकता है, बहुत जल्दी जल्दी बिना किसी नियम के उसकी विचारधारा अनेक विषयों को छूती रहती है, अतएव ऐसी विचारधारा भिन्न भिन्न दिशाओं में से बहती हुई वायु के बीच रही हुई दीपक के शिखा की तरह अस्थिर हुआ करती है,

तदनुसार अनेक विषय को छूने वाली विचार-धारा को व्यवस्थित करके एवं उसको कुछ निश्चित नियमों के आधार पर मर्यादित करके निश्चित समय तक एक विषयानुगामिनी बना देना ही ध्यान है। चूंकि ध्यान की आवश्यकता छद्मस्थ आत्मा के लिये ही आवश्यक है, अतः ध्यान की स्थिति बारहवें गुणस्थान तक ही कही गई है।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मोह के आत्यंतिक क्षय हो जाने से एवं केवलज्ञान-केवल दर्शन के उत्पन्न हो जाने के कारण से चित्त की अस्थिरता सर्वथा नष्ट हो जाया करती है, एवं विचारणीय वस्तु-विषय भी अवशिष्ट नहीं रहता है, तथा योगों की चंपलता भी सर्वथा नष्ट हो जाती है, अतः इन गुण-स्थानवर्ती आत्माओं के लिये ध्यान-साधना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है, किन्तु उनकी ज्ञान शक्ति सदैव के लिये निराबाध और अव्याबाध रीति से एक समान ही रहने के कारण से औपचारिक रूप से उनमें ध्यान-स्थिति मान ली गई है, जो कि "सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान" और "समुच्छिन्न क्रिया-निवृत्ति ध्यान" के नाम से कही जाती है। छद्मस्थ के लिये ध्यान संबंधी काल-मर्यादा अन्तर्मुहूर्त्त की ही बतलाई गई है, क्यों कि शारीरिक एवं मानसिक बल परिमित होने के कारण से अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय तक किसी भी एक विषय पर मन की धारा को एकाग्र बनाये रखना कठिन है।

श्वास-उच्छ्वास को रोकना ध्यान नहीं है, परन्तु किसी भी एक विषय पर अन्त करण की वृत्ति की स्थापना करना ही

ध्यान है। ध्यान के आराधना काल में कोई एक अखंड द्रव्य आधार रूप नहीं हुआ करता है, परन्तु किसी एक द्रव्य की कोई न कोई एक पर्याय ही आधार रूप हुआ करती है। क्यों कि द्रव्य का अस्तित्व रूप आधार उसके किसी न किसी गुण रूप पर्याय के रूप में ही हुआ करता है।

इस प्रकार आध्यात्मिक गुणों के विकास में ध्यान-साधना ही एक सर्वोत्तम और सर्वोपरि प्रमुख साधन है।

अनुयोग चार
बीसवाँ द्वार

उन उपयोगों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) चरणानुयोग, करणानुयोग, (२) धर्मकथानुयोग (३) द्रव्यानुयोग।

जिस सत् क्रिया को प्रत्येक दिन करने के लिये जिसका विधियुक्त विधान हो, जिसकी परिपालना करना आवश्यक हो, वह चरणानुयोग है, सामान्य अर्थ में यही चारित्र कहलाता है।

चरण सत्तरी के ७० बोल कहे गये हैं, जोकि निम्नोक्त प्राकृत गाथा में इस प्रकार संगुंफित किये गये हैं:—

वय-समण-धम्म संजम, वेयावच्चं च बंभगुत्तिओ।
नाणाइ तिअं तव कोह, निग्गहाई चरणमेयं॥

शब्दार्थ:—पांच महाव्रत, दश यतिधर्म, १७ प्रकार का संयम, दश प्रकार का वैयावृत्य धर्म-सेवा धर्म, नव प्रकार से ब्रह्मचर्य पालन, ज्ञान आदि तीन रत्न, बारह प्रकार का तप, चार कषाय का निग्रह, ये चारित्र के ७० भेद समझना चाहिये।
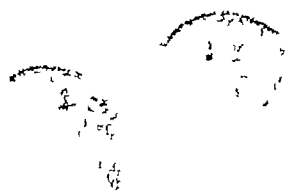
इन ७० ही भेदों का सामान्य परिचय इस प्रकार है:—

पाँच महाव्रत:—

(१) तीन करण और मन, वचन और काया रूप तीन योग से यावत् जीवन के लिये छह ही काया के जीवों की रक्षा करने रूप अहिंसा महाव्रत।

(२ से ५) तीन करण और तीन योग पूर्वक यावत् जीवन के लिये—झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह, ममता, तृष्णा, तथा ग्रन्थि भाव का परित्याग रूप महाव्रत, जो कि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव निष्परिग्रह व्रत के नाम से सुविख्यात हैं।

दश प्रकार का यति धर्म:—

(१) क्षमा, (२) मार्दव-विनय, (३) आर्जव-सरलता-निष्कपटता, (४) मुक्ति-संतोष-तृष्णापरित्याग, (५) तप, (६) संयम-इन्द्रियदमन, (७) सत्य, (८) शौच-मन, वचन, काया की पवित्रता, (९) अकिंचनत्व-ग्रन्थि भाव का, मूर्च्छाभाव का परित्याग-अपरिग्रह धर्म, (१०) ब्रह्मचर्य-मन, वचन, काया पूर्वक स्त्रीसेवन का परित्याग।

सतरह प्रकार का संयम:—

(१ से ५) हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह इन पाँचों [illegible] कारणों से निवृत्ति।

(६ से १०) श्रुत इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय संबंधी

विषय से और विकार से निवृत्ति। इन पाँचो इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना।

(११ से १४) क्रोध, मान, माया, और लोभरूप चारों कषायों से दूर रहना, एवं इनका नाश करने में सतत प्रयत्न-शील रहना।

(१५ से १७) मन, वचन और काया रूप योगों की दुष्प्रवृत्ति से दूर रहना। अशुभ चिन्तन से, अशुभ वाणी से, और अशुभ प्रवृत्ति से अलग रहना।

दश प्रकार का वैयावृत्य धर्मः—

(१, २) अरिहृत प्रभु एवं सिद्ध भगवान् की भक्ति, प्रार्थना, स्मरण, कीर्त्तन करना। उनके आदेश की शास्त्रानुसार परिपालना करना।

(३ से ७) आचार्य महाराज की, उपाध्यायजी की, स्थविर साधुजी की, तपस्वी की, एवं साधु-संतों की सेवा-भक्ति करना, उन्हें शांति पहुँचाना, उनके लिये समाधि उत्पन्न करना।

(८ से १०) गण, सघ, और क्रियाशील पुरुष की विनय-भक्ति करना और इनकी हर प्रकार से सेवा-सुश्रूषा करना।

नव प्रकार का ब्रह्मचर्यः—

(१) जिस मकान में अथवा उपाश्रय-स्थानक में स्त्री, पशु, नपुंसक आदि रहते हो, वहाँ नहीं ठहरना।

(२) स्त्री संबंधी मनमोहक कथा-वार्ता एवं शृंगार चर्चा नहीं करना।

(३) स्त्री की संगति नहीं करना, एक ही आसन पर स्त्री के साथ नहीं बैठना।

(४) स्त्री के अंगोंपांगों को विकारदृष्टि से नहीं देखना।

(५) आड़ में रह कर अथवा परदा, भींत, टट्टी आदि की ओट में रह कर स्त्री-पुरुष संबंधी क्रीड़ा-वार्ता, हास्य, गायन, स्नेह-शब्द आदि न तो सुनना और न देखना।

(६) भूतकाल में भोगे हुए भोगों को और रति-क्रीड़ा को न तो स्मृति में लाना और न उन संबंधी चर्चा-वार्ता ही करना।

(७) सरस भोजन एव काम-उत्तेजक पदार्थ नहीं खाना, नहीं पीना।

(८) मर्यादा से अधिक भोजन भी नहीं करना।

(९) शृंगार दृष्टि से एव शरीर को सुशोभित करने की दृष्टि से वेश-भूषा, केश-समार्जन आदि क्रियाएँ नहीं करना।

ज्ञानादि तीन रत्नः—

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन-श्रद्धा, और सम्यक् चारित्र, इन तीनों रत्नों की भलीभाँति से आराधना करना।

बारह तपः—

(१) अमुक समय के लिये आहार का त्याग करना, "अनशन तप" है।

(२) भूख से कम आहार करना, 'ऊनोदरता' तप है।

(३) वृत्ति का—आजीविका का संक्षेप करना, 'वृत्ति संक्षेप' तप है।

(४) दूध, घी, तेल, दही, गुड़, शक्कर आदि का त्याग करना 'रसत्याग' तप है।

(५) विवेकपूर्वक मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिये कायोत्सर्ग करना एवं अन्य विधि से सात्विक दृष्टिकोण के साथ शरीर को कष्ट पहुँचाना, 'काया क्लेश' तप है।

(६) इन्द्रियों को वश में रखना, क्रोध-लोभ आदि नहीं करना, मन-वचन-काया से किसी भी जीव को तकलीफ नहीं देना, एवं उपाश्रय आदि एकान्त स्थान में रहना, 'संलीनता' तप है।

(७) जो पाप-अपराध किये हों, उन्हें गुरु आदि पूजनीय पुरुषों के आगे निष्कपटता के साथ प्रकट करना और वे पूजनीय पुरुष उन पापों की शुद्धि के लिये जो भी तप आदि विधान बतलावें, उनकी आराधना करना, यही 'प्रायश्चित' नामक तप है।

(८) देव, गुरु, माता, पिता आदि गुणवृद्ध, वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध पूज्य पुरुषों की भक्ति करना, उनका आदर सत्कार करना, उन्हें अपने सच्चरित्र द्वारा सन्तुष्ट रखना, यही 'विनय' तप है।

(९) आचार्य, उपाध्याय, साधु, तपस्वी एवं सहायता योग्य पुरुषों की मन, वचन और काया द्वारा, अन्न से, जल से, वस्त्र से, औषधि से, मकान आदि से एवं पुस्तक-ग्रंथ आदि समाधि जनक वस्तुओं से सेवा-शुश्रूषा करना, यही 'वैयावृत्य' तप है।

(१०) सद् ग्रंथों का पठन-पाठन करना, शंकाओं का गुरु आदि द्वारा समाधान करना, पढ़े हुए भाग की पुनरावृत्ति करना, धर्म-कथा करना, तथा सात्विक विषयों पर व्याख्यान देना, यह 'स्वाध्याय' तप है।

(११) मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को संयमित करके किसी एक ही वस्तु-विशेष पर आध्यात्मिक दृष्टि से एकाग्रता पूर्वक चिन्तन-मनन करना, यही 'ध्यान' तप है।

(१२) कषाय का त्याग करना, मिथ्या धारणाओं का त्याग करना, आठ कर्म बन्धक क्रियाओं का त्याग करना, यही 'व्युत्सर्ग' अथवा 'भावोत्सर्ग' नामक सर्वश्रेष्ठ तप है।

चार कषाय:—

क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों दुर्भावनाओं

के लिये 'कषाय' यह एक सम्मिलित संज्ञा निर्धारित कर दी गई है। इन चारों दुर्भावनाओं की तरतमता और हीनाधिकता के कारण से पुनः प्रत्येक के चार चार भेद शास्त्रों में किये गये हैं। जो कि इस प्रकार हैं:—

(१) अनन्तानुबंधी	क्रोध,	मान,	माया,	लोभ,
(२) अप्रत्याख्यानावरण	"	"	"	"
(३) प्रत्याख्यानावरण	"	"	"	"
(४) संज्वलन	"	"	"	"

जो आत्मा अनन्तानुबंधी कषाय वाला होता है, वह नरकगामी हुआ करता है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय वाला तिर्यंचगति में जाने वाला होता है, प्रत्याख्यानावरण कषाय वाला मनुष्य गति में जाने वाला होता है, और संज्वलन कषाय वाला देव गति में जाने वाला होता है, एवं चारों कषायों से रहित आत्मा मोक्ष में जाने वाली हुआ करती है।

भाव दृष्टि से चरणानुयोग का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, एवं द्रव्य दृष्टि से चरणानुयोग में उन ग्रंथों की गणना है, जिनमें कि चारित्र सबंधी क्रियाओं का, गुण संबधी सत् प्रवृत्तियों का, स्वमति वाले और अन्य मति वाले साधुओं तथा श्रावकों के लिये आचरणीय एवं करणीय क्रियाओं का विस्तृत विवरण हो। जिन क्रियाओं को करने के लिये समय निश्चित हो, तथा जो क्रियाएें अमुक अमुक समय पर ही की जाने वाली हों,

(८) देव, गुरु, माता, पिता आदि गुणवृद्ध, वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध पूज्य पुरुषों की भक्ति करना, उनका आदर सत्कार करना, उन्हें अपने सच्चरित्र द्वारा सन्तुष्ट रखना, यही 'विनय' तप है।

(९) आचार्य, उपाध्याय, साधु, तपस्वी एवं सहायता योग्य पुरुषों की मन, वचन और काया द्वारा, अन्न से, जल से, वस्त्र से, औषधि से, मकान आदि से एवं पुस्तक-ग्रंथ आदि समाधि जनक वस्तुओं से सेवा-शुश्रूषा करना, यही 'वैयावृत्य' तप है।

(१०) सद् ग्रंथों का पठन-पाठन करना, शंकाओं का गुरु आदि द्वारा समाधान करना, पढ़े हुए भाग की पुनरावृत्ति करना, धर्म-कथा करना, तथा सात्विक विषयों पर व्याख्यान देना, यह 'स्वाध्याय' तप है।

(११) मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को संयमित करके किसी एक ही वस्तु-विशेष पर आध्यात्मिक दृष्टि से एकाग्रता पूर्वक चिन्तन-मनन करना, यही 'ध्यान' तप है।

(१२) कषाय का त्याग करना, मिथ्या धारणाओं का त्याग करना, आठ कर्म बन्धक क्रियाओं का त्याग करना, यही 'व्युत्सर्ग' अथवा 'भावोत्सर्ग' नामक सर्वश्रेष्ठ तप है।

चार कषाय:—

क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों दुर्भावनाओं

के लिये 'कषाय' यह एक सम्मिलित संज्ञा निर्धारित कर दी गई है। इन चारों दुर्भावनाओं की तरतमता और हीनाधिकता के कारण से पुनः प्रत्येक के चार चार भेद शास्त्रों में किये गये हैं। जो कि इस प्रकार हैं:—

(१) अनन्तानुबंधी	क्रोध,	मान,	माया,	लोभ,
(२) अप्रत्याख्यानावरण	"	"	"	"
(३) प्रत्याख्यानावरण	"	"	"	"
(४) संज्वलन	"	"	"	"

जो आत्मा अनन्तानुबंधी कषाय वाला होता है, वह नरकगामी हुआ करता है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय वाला तिर्यंचगति में जाने वाला होता है, प्रत्याख्यानावरण कषाय वाला मनुष्य गति में जाने वाला होता है, और संज्वलन कषाय वाला देव गति में जाने वाला होता है, एवं चारो कषायों से रहित आत्मा मोक्ष में जाने वाली हुआ करती है।

भाव दृष्टि से चरणानुयोग का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, एवं द्रव्य दृष्टि से चरणानुयोग में उन ग्रंथों की गणना है, जिनमें कि चारित्र सबंधी क्रियाओं का, गुण संबधी सत् प्रवृत्तियों का, स्वमति वाले और अन्य मति वाले साधुओं तथा श्रावकों के लिये आचरणीय एवं करणीय क्रियाओं का विस्तृत विवरण हो। जिन क्रियाओं को करने के लिये समय निश्चित हो, तथा जो क्रियायें अमुक अमुक समय पर ही की जाने वाली हों,

उन क्रियाओं की गणना 'करणानुयोग' में की जाती है। इसके भी ७० बोल कहे गये हैं, जोकि निम्न गाथा में संग्रंथित कर दिये गये हैं:—

पिंडविसोही समिई, भावणा पडिमा इंदियनिग्गहो।
पडिलेहणा गुत्तिओ, अभिग्गहा चेव करणं तु॥

तात्पर्यार्थः—चार प्रकार की पिंड विशुद्धि, पाँच प्रकार की समितियाँ, बारह प्रकार की भावनाएँ, बारह प्रकार की पड़िमाएँ, पाँच प्रकार का इन्द्रिय-निग्रह, पचीस प्रकार की प्रतिलेखनाऐं, तीन प्रकार की गुप्तियाँ, और चार प्रकार का अभिग्रह, इस प्रकार ७० भेद करण सत्तरी के समझे जाने चाहिये।

(१) आहार, पानी आदि खाद्य पदार्थ, (२) सूती, ऊनी आदि कपड़े (३) काष्ठ पात्र-मिट्टी पात्र, और (४) निर्दोष मकान अथवा स्तान आदि, इन चारों वस्तुओं का शास्त्र-विधि अनुसार एवं प्रमाण-अनुसार नियमितता पूर्वक उपयोग करना अथवा इन्हें ग्रहण करना, यही 'पिंड-विशुद्धि' है।

(१) कोई भी प्राणी अपने पैर आदि शरीर-अंग से दब नहीं जाय, कुचल नहीं जाय, इस दृष्टि से मार्ग में सावधानी के साथ चलना, 'ईर्या समिति' है।

(२) निर्दोष, सत्य एवं प्रिय तथा परिमित भाषा बोलना, 'भाषा समिति' है।

(३) बयालीस दोषों से रहित, निर्दोष आहार की गवेषणा करना, 'एषणा समिति' है।

(४) ध्यान पूर्वक देखकर के और रजोहरण से परिमार्जन करके सावधानी के साथ वस्तुओं को उठाना अथवा रखना, यही 'आदान निक्षेप' समिति है।

(५) मल, मूत्र, थूंक, कफ आदि को जीव रहित स्थान एवं एकान्त स्थान पर विवेकपूर्वक छोड़ना, यही 'परिष्ठापनिका' समिति है।

भावनाएँ.—

(१) धन, जन, यौवन, शरीर और सभी प्रकार की सुख-सामग्री नष्ट हो जाने वाली है, इनसे निश्चित रूप से वियोग होने वाला है, ऐसा श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना, यह 'अनित्य-भावना' है।

(२) मृत्यु महान् से महान् पुरुष को भी, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र, सम्राट, सेठ-साहूकार, देवी-देवता आदि सभी को अपनी जाल में पकड़ लेती है, इससे रक्षा करने में अथवा कराने में कोई भी शक्तिशाली आत्मा समर्थ नहीं है, अतएव इस विशाल विश्व में इस आत्मा के लिये सिवाय धर्म के अन्य कोई तत्त्व शरणदाता नहीं है, ऐसा श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना, यह 'अशरण भावना' है।

(३) यह ससार कितना विषम और कैसा विस्मयजनक है कि किसी जन्म में तो यह आत्मा पुत्र बन जाता है, और दूसरे जन्म मे ही यह उसका पिता अथवा पत्नी अथवा माता बन जाया करता है। इस प्रकार परस्पर में कभी माता तो कभी

पिता, कभी पति तो कभी पत्नी, कभी पुत्र तो कभी भाई बन जाया करता है, इस प्रकार की सांसारिक अनियमितता का श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना, यह 'संसार-भावना' है।

(४) यह आत्मा इस संसार में अनादिकाल से अकेला ही जन्म, मरण, करता आ रहा है, अकेला ही अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगता आ रहा है, इसमें कोई भी सहायता देने वाला साथी अथवा मित्र नहीं है, ऐसा श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना, यह 'एकत्व भावना' है।

(५) यह मेरी आत्मा शुद्ध रूप से "सच्चिदानंद" रूप है, और शरीर पुद्गलों से बना हुआ होने से जड़ रूप है, अतएव शरीर आत्मा नहीं है और न आत्मा ही शरीर है, निश्चित रूप से शरीर, इन्द्रियाँ, मन, धन और जन आत्मा से भिन्न हैं, ऐसा श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना, यह 'अन्यत्व भावना' है।

(६) इस शरीर पर ममता करना मेरी मूर्खता है, क्योंकि यह शरीर रक्त, माँस, हड्डी, मल, मूत्र आदि अपवित्र एवं घृणित पदार्थों से भरा हुआ है, अनेक उपायों के करने पर भी यह शुद्ध और स्वच्छ होने वाला नहीं है, ऐसा श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना यह 'अशुचित्व भावना' है।

(७) क्रोध. मान, माया, लोभ, आदि कषाय मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और अशुभ योगो के विकारों से यह आत्मा नित्य नये नये कर्मों का बंधन किया करती है, ऐसा श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना यह 'आस्रव-भावना' है।

(८) व्रत-पालन, प्रमाद-त्याग, कषाय-त्याग, शुभ योग-प्रवृत्ति और शुद्ध श्रद्धा रखने से कर्मों का आगमन रुक जाया करता है, ऐसा श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना यह 'संवर-भावना' है।

(९) बारह प्रकार के तप के भेदों का अनुचिन्तन करना, कर्म-क्षय करने के कारणों का अनुसंधान करना, ऐसा श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना यह 'निर्जरा भावना' है।

(१०) यह ससार चौदह राजु की लंबाई वाला और सात राजु की चौड़ाई वाला है, इसमें छह द्रव्य रहे हुए हैं, इस प्रकार लोक-रचना संबंधी श्रद्धा पूर्वक अनुचिन्तन करना यह ' लोक-भावना ' है।

(११) अनन्तकाल से यह आत्मा चौरासी लाख जीव-योनियों में परिभ्रमण करता आ रहा है, अनेक उच्च-नीच कुलों में से और अवस्थाओं में से यह गुजरा है, अनेकबार चक्रवर्ती पद, मनुष्य-जन्म, उत्तम कुल, निरोग शरीर, पूर्ण इन्द्रियों, आर्य-देश, दीर्घ आयु और अन्य अच्छी वस्तुओं का योग इसे प्राप्त हुआ है, परन्तु वह फिर भी सम्यक्त्व-गुण की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है, ऐसा श्रद्धापूर्वक विचार करना यह 'बोधिदुर्लभ-भावना' है।

(१२) संसार से मुक्ति दिलाने वाला केवल सच्चरित्र रूप धर्म ही एक समर्थ सद्गुण है, धर्म से ही भगवत् पद की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा श्रद्धापूर्वक 'धर्म-गुण' का अनुचिन्तन करना ही "धर्म-भावना" है।

साधु पद धारण करके कर्मों की निर्जरा के लिये शास्त्र-विधि के अनुसार भिन्न भिन्न ढंग से तपस्या का आचरण करना, काय-क्लेश की आराधना करना, विविध रीति से उत्तरोत्तर रूप उग्र तरीके से साधु-अवस्था व्यतीत करना, यही "बारह प्रकार की साधु-पडिमा" नामक विशेष तप धर्म है। पाँचों इन्द्रियों को कुप्रवृत्ति से हटाकर उन्हे सत् प्रवृत्ति में संयोजित रखना, हर प्रकार से इन पर नियंत्रण रखना प्रमाद का परित्याग करते हुए यथाविधि प्रत्येक समय इन्हे संवर और निर्जरा के कामों में ही संलग्न रखना, यही 'पंच-इन्द्रिय-निग्रह' धर्म है।

शास्त्र-विधि अनुसार यथासमय उपकरण रूप वस्तुओं को विवेकपूर्वक लेना-रखना, इनका निरीक्षण-करना, परीक्षण-करना, और समीक्षण करना, यही 'प्रतिलेखना' रूप धर्म है।

मन, वचन और काया का धर्म-विधि अनुसार संगफन करना, इनको वश में रखते हुए इन पर पूर्ण रीत्या नियंत्रण रखना यही 'गुप्ति' धर्म है।

मन, वचन और काया के प्रति अंगीकृत संयम की और निर्धारित नियम का पालन की परीक्षा के हेतु मर्यादा में रहते हुए कुछ उग्र से उग्र शर्तों की धारणा करना, और जितने समय तक वे शर्तें यथाविधि पूर्ण न हो, उतने समय तक आहार-पानी नहीं ग्रहण करना, 'अभिग्रह' नामक उग्र तप है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के दृष्टि कोण से यह चार प्रकार का कहा जाता है।

इस प्रकार करण सत्तरी के ७० बोलों का स्वरूप समझ लेना चाहिये। इन बोलों की आराधना निरन्तर नहीं की जाती है, परन्तु यथाविधि और यथासमय पर ही इनकी आराधना करने का उल्लेख है।

द्रव्यदृष्टि से वे शास्त्र भी 'चरणकरणानुयोग-ग्रंथ' कहे जाते हैं, जिन में कि लोकालोक का तथा लोक में रहे हुए सभी पदार्थों का वर्णन हो।

(३) धर्म कथानुयोग में उन ग्रंथों का समावेश है, जिनमें कि धर्मशील और पुण्यशील महात्माओं का वर्णन हो, अनेक जन्मों में उन द्वारा कृत कर्मों का तथा कर्मों द्वारा प्रदत्त फल का जिन ग्रंथों में वर्णन हो। इस प्रकार महान् पुरुषों का, तीर्थंकर, गणधर, पूर्वधर,स्थविर, आचार्य, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव प्रतिवासुदेव, आदि आदर्श सत पुरुषों के जीवन-चरित्र का वर्णन करने वाले सात्विक ग्रंथ रत्न ही 'धर्म-कथानुयोग' के रूप में गिने जाते हैं।

(४) द्रव्यानुयोग में उन ग्रंथों का समावेश है, जिन में कि 'तत्त्वज्ञान, द्रव्यवाद, नय-प्रमाण विवेचन, सप्तभंगीवाद, निक्षेप-निरूपण, गुणस्थान-गुण विवेचन, कर्म-सिद्धान्त, आत्मतत्त्व, ईश्वर-स्वरूप और अन्य तात्त्विक एवं सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन हो।

द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी, आदि भांगों का और गणित-विषय का विवेचन भी जिन ग्रंथों में हो, उनका समावेश भी द्रव्यानुयोग-विभाग में किया जा सकता है।

इस प्रकार विश्व मे उपलब्ध संपूर्ण साहित्य का और सांगोपांग श्रुतज्ञान का समावेश इन चारो अनुयोगों में किया जा सकता है। तदनुसार जैन और जैनेतर सम्पूर्ण साहित्य का उल्लेख इन्हीं चारो अनुयोगों द्वारा किया जा सकता है।

जागरणा तीन

इक्कीसवाँ द्वार

जागरणा शब्द जागृति से संबधित है, जिसका तात्पर्य सचेत रहते हुए गंभीर रीति से मार्मिक चिन्तन करना है। इसके तीन भेद कहे गये हैं:—(१) कुटुम्ब जागरणा, (२) देश जागरणा, और (३) धर्म जागरणा।

(१) कौटुम्बिक हिताहित दृष्टि से सांसारिक परिस्थितियो का और व्यवहार का चिन्तन करना कौटुम्बिक जागरणा है।

(२) देश-विदेश की स्थिति का अध्ययन करते हुए राजनैतिक और शासन संबंधी चिन्तन करना, देश जागरणा है।

(३) आत्म-तत्त्व और ईश्वर-स्वरूप का चिंतन करते हुए धार्मिक सिद्धान्तो का, नैतिक और सात्विक नियमों का, व्रतों और त्याग-प्रत्याख्यानों का अनुचिन्तन करना, धर्म जागरणा है।

सप्त भंगीवाद

बावीसवाँ द्वार

विश्व के प्रत्येक परमाणु की, प्रत्येक पुद्गल की, प्रत्येक द्रव्य की और प्रत्येक पदार्थ की मुख्यतः कालदृष्टि से तीन पर्यायें हैं, एक भूतकालीन पर्याय, दूसरी वर्तमानकालीन पर्याय और तीसरी भविष्यत्कालीन पर्याय है। जो कि क्रम से व्यय रूप, उत्पत्ति रूप और ध्रौव्यरूप भी कही जा सकती है। इन्हीं तीनों अवस्थाओं में अनन्तानत पर्यायो के स्वरूप का उल्लेख किया जा सकता है। प्रत्येक पदार्थ को प्रत्येक क्षण में इन्हीं अवस्थाओं में गुजरना ही पड़ता है। इसमें कोई अपवाद नहीं हो सकता है। इसलिये इन्हीं तीनों अवस्थाओं के स्वरूप का कथन करने के लिये तीन शब्दों का निर्माण किया गया है। जोकि इस प्रकार है:—

(१) वर्तमानकालीन अवस्था के लिये 'अस्ति' है।

(२) भूतकालीन अवस्था के लिये 'नास्ति' है।

(३) भविष्यत्कालीन अवस्था के लिये 'अवक्तव्य' है।

इन तीनों शब्दों के आधार से क्रम से अथवा दो दो के जोड़े से अथवा तीनों के साथ रूप से उपयोग करने पर कुल भांगे अथवा भंग सात ही होते हैं और सात ही हो सकते हैं, न तो सात से अधिक किसी भी काल में हो सकते हैं और न सात से कम ही। क्योंकि मूल में तीन शब्द ही आधारभूत होने से क्रम से चाहे एक-एक का उपयोग किया जाय, चाहे किन्हीं भी दो दो शब्दों का उपयोग किया जाय, अथवा चाहे तीनों ही शब्दों का एक साथ ही उपयोग कर लिया जाय, तदनुसार परिमाण स्वरूप सात भंग ही बना करते हैं। यही सप्तभंगी वाद है। प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक पर्याय को लेकर सप्तभगीवाद का उपयोग किया जा सकता है। तदनुसार प्रत्येक पदार्थ में अनंतानंत पर्यायें होती हैं अथवा हो सकती हैं। इस कारण से अनंतानंत पर्यायों से संबंधित अनंतानंत सप्तभगियाँ हुआ करती हैं। तात्पर्य यह है कि षट् द्रव्यों के, अनंतानंत जीवों के और अनंतानंत पुद्गल-पदार्थों के तीनों काल के आधार से अनंतानंत पर्यायें होती ही हैं और तदनुसार प्रत्येक पर्याय का विवेचन करने वाली सप्तभंगी हुआ ही करती है, अतएव अनंतानंत सप्तभंगियों का कथन किया जाना न तो आश्चर्य जनक ही है और न असंभव ही। परन्तु फिर भी यह ध्यान में रहे कि प्रत्येक सप्तभंगी में भंग तो केवल सात के सात ही रहेंगे, न तो किसी भी दशा में अधिक हो सकते हैं और न कम ही। क्योंकि मूल में तीन शब्द ही रहे हुए हैं, और इनके आधार से ही सात भांगों का निर्माण हुआ करता है।

सात भंग मूल रूप से इस प्रकार हैं:—

(१) स्यात् अस्ति।
(२) स्यात् नास्ति।
(३) स्यात् अस्ति-नास्ति।
(४) स्यात् अवक्तव्यं।
(५) स्यात् अस्ति अवक्तव्यं।
(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्यं।
(७) स्यात् अस्ति नास्ति-अवक्तव्यं।

(१) 'स्यात् अस्ति' का तात्पर्य है कि वर्तमान काल की अपेक्षा से वस्तु मौजूद रूप है।

(२) 'स्यात् नास्ति' का अर्थ है कि भूतकालीन और भविष्यत कालीन पर्याय की अपेक्षा से 'पर्याय का अभाव होने से' मौजूद रूप नहीं है।

(३) 'स्यात् अस्ति-नास्ति' का संबंध क्रम से वर्तमान, भूत और भविष्यत् काल की पर्याय से है।

(४) 'स्यात् अवक्तव्यं' का रहस्य यह है कि यदि वस्तु का तीनों कालों की दृष्टि से एक साथ वर्णन किया जायगा तो वस्तु का स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि शब्दों के अभाव से 'उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य' का एक साथ और एक ही शब्द द्वारा वर्णन कैसे हो सकता है?

(५) 'स्यात् अस्ति अवक्तव्यं' का स्वरूप यह है कि वर्तमान काल की दृष्टि से वस्तु मौजूद से होती हुई भी तीनों कालों की सम्मिलित दृष्टि से वस्तु अवाच्यरूप ही है।

(६) 'स्यात् नास्ति-अवक्तव्यं' का अर्थ यह है कि भूत-

भविष्यत्कालीन पर्याय की दृष्टि से वस्तु मौजूद नहीं होती हुई भी तीनों कालों की सम्मिलित दृष्टि से वह वस्तु अवाच्य रूप ही है।

(७) 'स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यं' की गंभीरता यही है कि वर्तमान की अपेक्षा से वह मौजूद होती हुई भी भूत-भविष्यत् की अपेक्षा से गैर मौजूद रूप ही है और इसी लिये उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है, एवं तदनुसार वह 'अवाच्य' रूप ही है।

षड् गुण हानि-वृद्धि
तेवीसवाँ द्वार

(१) संख्यात भाग हीन, (२) असंख्यात भाग हीन, (३) अनंत भाग हीन, (४) संख्यात गुण हीन, (५) असंख्यात गुण हीन (६) अनन्त गुण हीन। यह छह प्रकार की हीन—स्थिति जानना चाहिये। इसी प्रकार से यह छह प्रकार की वृद्धि हुआ करती है, जो कि इस प्रकार है:—

(१) संख्यात भाग वृद्धि, (२)असंख्यात भाग वृद्धि, (३) अनन्त भाग वृद्धि, (४) संख्यात गुण वृद्धि, (५) असंख्यात गुण वृद्धि और (६) अनन्त गुण वृद्धि।

(१) जिसकी गणना की जा सके, वह संख्यात है।

(२) जिसकी गणना नहीं की जा सके, परन्तु फिर भी जो सीमित हो, वह असंख्यात है।

(३) जिसकी गणना कोई भी शक्तिशाली महापुरुष चक्रवर्ती, तीर्थंकर, इन्द्र आदि भी नहीं कर सके और जो अपरिमित एवं असीम की कोटि में हो, वह अनन्त है।

संख्यात, असख्यात और अनन्त के भी कई एक भेद एवं प्रभेद कहे गये हैं। जिनकी सामान्य रूपरेखा इस प्रकार है:—

(१) संख्यात, (२) परित्त असंख्यात, (३) युक्त असंख्यात और (४) असंख्यात असंख्यात।

(६) परित्त अनन्त. (६) युक्त अनन्त और (७) अनन्तानन्त।

इन सातो भेदों मे से प्रत्येक भेद के भी तीन तीन उपभेद कहे गये हैं और इस प्रकार कुल इक्कीस उपभेद हुआ करते हैं।

प्रत्येक भेद के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से इन इक्कीसों के नाम समझ लेना चाहिये। जैसे कि—जघन्य सख्यात, मध्यम संख्यात और उत्कृष्ट संख्यात इत्यादि।

———

६ प्रकार के पुद्गल

चौबीसवाँ द्वार

प्रत्येक पुद्गल के अंश में रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि धर्म रहे हुए हैं। चाहे वह पुद्गल परमाणु रूप हो, देश रूप हो, अथवा स्कंध रूप हो, सूक्ष्म हो अथवा बादर हो, गोचर रूप हो अथवा अगोचर रूप हो, दृश्य हों अथवा अदृश्य हो, तात्पर्य यही है कि प्रत्येक में रूप है, रस है, गंध है और स्पर्श आदि है।

इसके पर्याय दृष्टि से असंख्यात भेद होने पर भी शास्त्रकारों ने प्रमुख रूप से इसके ६ भेद बतलाये हैं, जोकि इस प्रकार हैं:—

(१) सूक्ष्म-सूक्ष्म, (२) सूक्ष्म, (३) सूक्ष्मबादर, (४) बादर-सूक्ष्म, (५) बादर और (६) बादर-बादर।

(१) सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्गल वे परमाणु है, जोकि स्वतंत्र हैं, अछेद्य हैं, अभेद्य हैं, परमअवधि वाले अथवा केवल ज्ञान वाले महापुरुषों द्वारा ही जो जाने जा सकते हैं, किसी भी शक्ति द्वारा, किसी भी यंत्र द्वारा और किसी भी महापुरुष द्वारा अथवा

इनकी लब्धिद्वारा कभी भी जिसके दो खंड नहीं किये जा सकते हैं और जो संपूर्ण लोक में अनन्त लघुतम रूप वाला होता है, वही सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्‌गल कहलाता है, ऐसे ही पुद्‌गलो का दूसरा नाम 'परमाणु' भी है ।

(२) 'सूक्ष्म' नामक पुद्‌गल वे हैं, जोकि अनन्त सूक्ष्म-सूक्ष्म परमाणुओं से बने हुए हों, जो इनसे अपेक्षाकृत स्थूल हों, जो शक्ति विशेष द्वारा छेद्य भी हों और भेद्य भी हों, परन्तु ऐसा होने पर भी ये पुद्‌गल इन्द्रियों द्वारा अज्ञेय और अगोचर ही हुआ करते हैं। 'कर्म-पुद्‌गल' इन्हीं सूक्ष्म पुद्‌गलों के अन्तर्गत माने जाते हैं।

(३) सूक्ष्म-बादर पुद्‌गल वे हैं, जो कि कुछ एक इन्द्रियो द्वारा जाने जा सकते हों और शक्ति-विशेष द्वारा छेद्य-भेद्य हो, परन्तु आंख आदि इन्द्रिय द्वारा जो नहीं जाने जा सकते हों, शब्द, गंध, वायु आदि के पुद्‌गल सूक्ष्म बादर कहे जाते हैं।

(४) बादर-सूक्ष्म पुद्‌गल वे हैं, जो कि आँख आदि इन्द्रिय द्वारा देखे जाने पर भी पकड़ मे नहीं आ सके। धूप, छाया के पुद्‌गल बादर-सूक्ष्म पुद्‌गलो की कोटि मे गिने जाते हैं।

(५) बादर पुद्‌गल वे हैं, जो कि द्रव्यशील हैं, भिन्न भिन्न होकर भी पुनः जो एक रूप में मिल जाने की शक्ति रखते हैं, घी, तेल, दूध आदि के पुद्‌गल बादर पुद्‌गल के रूप में माने जाते हैं।

(६) बादर-बादर पुद्‌गल वे हैं, जो कि विभाजित होकर पुनः एक रूप में, अभिन्न रूप में परिणित नहीं हो सकते हों, जो

कि स्थूलातिस्थूल हों, सभी इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय हों, छेद्य हों, भेद्य हों। धातु, पत्थर, लकड़ी, भोग-उपभोग के पदार्थ आदि पुद्गल बादर-बादर पुद्गल के अन्तर्गत माने जाते हैं।

मार्गणा के १४ भेद
पच्चीसवाँ द्वार

मार्गणा के चौदह भेदों को नीचे लिखी गाथा में संग्रहित कर दिया गया है।

गाथा

गइइंदिए य काये, जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा, भव सम्मे संन्नि आहारे॥

संसारवर्ती जीवो का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करने के लिये और उनकी सांसारिक स्थिति जानने के लिये तथा आत्मा के मूल गुणों का ह्रास या विकास समझने के लिये 'मार्गणा' रूप प्रणाली की स्थापना की गई है। मार्गणा का सामान्य शब्दार्थ 'ढूंढना' होता है। जिससे यही तात्पर्य है कि जीवो के गुण-दोषों के रूप में उनके भेद-प्रभेदों का और विभिन्न अवस्थाओं का अनुसंधान किया जाय।

उपरोक्त विवेचन के अनुसार गाथा में संग्रहित मार्गणा

के चौदह भेद इस प्रकार हैं:—

(१) गति, (२) इंद्रिय, (३) काय, (४) योग, (५) वेद, (६) कषाय, (७) ज्ञान, (८) संयम, (६) दर्शन, (१०) लेश्या, (११) भव्यत्व, (१२) सम्यक्त्व, (१४) संज्ञित्व, और (१४) आहारकत्व।

(१) 'गति' शब्द से उस अवस्था का संबंध है, जो कि गतिनाम कर्म के उदय से प्राप्त होती है, और जिससे 'मनुष्य, तिर्यंच, देव, और नरक' में से किसी भी एक का उल्लेख किया जाता है।

इस प्रकार गति के चार भेद हुए:—१ मनुष्य गति, २ तिर्यंचगति, ३ देव गति, और ३ नरक गति। ये ४ सांसारिक गतियां हुई, इन चारों के बंधन से मुक्त होने पर पाँचवीं गति-सिद्ध गति प्राप्त होती है, जो कि अजर और अमर गति है।

(२) इन्द्रिय शरीर का वह अंग है, जिसके द्वारा सुनना. देखना, सूंघना, स्वाद जानना और सर्दी-गरमी, कोमल, कठोर, आदि विषयों का ज्ञान हुआ करता है। इन्द्रियों की प्राप्ति नाम कर्म के उदय से हुआ करती है, प्रत्येक सांसारिक जीव के जघन्य एक इन्द्रिय और उत्कृष्ट पाँच इद्रियां हुआ करती हैं। इन्द्रियाँ के नाम इस प्रकार हैं:—(१) स्पर्शना इन्द्रिय, (२) रसना इन्द्रिय, (३) घ्राण इन्द्रिय, (४) चक्षु इन्द्रिय और (५) श्रुत इन्द्रिय।

मुक्त आत्मा इंद्रियों से रहित हुआ करते हैं।

(३) कायशब्द का तात्पर्य शरीर से है। अमुक शरीर वाले

जीवों की संज्ञा अमुक है, जैसे कि पृथ्वी रूप शरीर वाले पृथ्वी काय, जल रूप शरीर वाले अप्काय, अग्निरूप शरीर वाले तेजः-काय, इत्यादि। शरीर की प्राप्ति भी नामकर्म द्वारा ही हुआ करती है।

कायरूप जीवों के ६ भेद कहे गये हैं:—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायु-काय, वनस्पतिकाय और त्रस काय। मुक्तजीव 'अकाय याने शरीर रहित' हुआ करते हैं।

(४) योग का तात्पर्य 'मन, वचन और काया' से है। मन के शुभाशुभ विचार मनोयोग है। शुभाशुभ भाषा का प्रयोग वचन योग है और शरीर की शुभाशुभ प्रवृत्ति काय-योग है।

इस प्रकार ये तीनों योग सांसारिक जीवों के ही हुआ करते हैं, मुक्त जीव तो अयोगी ही होते हैं।

(५) मैथुन याने अब्रह्मचर्य की इच्छा ही 'वेद' है। स्त्रीवेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद ये तीन वेद सांसारिक जीवों के होते हैं, मुक्त आत्मा अवेदी होते हैं। वेद का उदय मोहनीय कर्म से हुआ करता है।

(६) चारित्र की मलीनता ही कषाय है। इसके मुख्य रूप से चार भेद हैं:—क्रोध, मान, माया और लोभ। न्यूनाधिक रूप से सभी सांसारिक जीवों में इन कषायों का अस्तित्व और उदय पाया जाता है, इनकी सत्ता चारित्र मोहनीय कर्म के कारण से है। मुक्त अवस्था में कषाय का आत्यंतिक रूप से क्षय हुआ करता है, इसीलिये मुक्त आत्मा अकषायी होते हैं।

(७) वस्तु के स्वरूप को समझने में चेतना-शक्ति की प्रवृत्ति ही 'ज्ञान' है। इसके पांच भेद हैं, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान।

मिथ्या समझ और विपरीत समझ को ही 'अज्ञान' कहा जाता है, जो कि तीन प्रकार का होता है, (१) मति अज्ञान, (२) श्रुत अज्ञान और (३) विभंग ज्ञान।

(८) कर्म का बंधन कराने वाली प्रवृत्ति से अलग हो जाना संयम है। संयम का ही दूसरा नाम चारित्र है। इस मार्गणा के सात भेद हैं:—(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोप-स्थापनीय चारित्र, (३) परिहार विशुद्ध चारित्र, (४) सूक्ष्म संप-राय चारित्र, (५) यथाख्यात चारित्र, (६) संयतासंयत अथवा देशाविरति चारित्र और (७) असंयत अथवा अविरति-मुक्त आत्माएँ न तो संयत हुआ करती हैं और न असंयत ही।

उपरोक्त भेदों का प्राथमिक अर्थ क्रम से इस प्रकार है:—

(१) जिस संयम में शांत भाव की अथवा समता भाव की और राग-द्वेष के अभाव की प्राप्ति हुआ करती है, वह सामायिक चारित्र है। यह दो प्रकार का हुआ करता है, इत्वर और यावज्जीविक।

(२) अज्ञानता, कमजोरी, प्रमाद आदि कारणों से प्राप्त दोषों के निवारण के लिये शुद्धिपूर्वक पुनः दीक्षा ग्रहण करना छेदोपस्थानीय चारित्र है।

(३) जिस दीक्षा-पर्याय में खास तौर पर शास्त्रीय विधि

अनुसार विशेष तप की आराधना करके आत्मा की विशुद्धि की जाती है, वह परिहार- विशुद्धि चारित्र है।

(४) जिस चारित्र में क्रोध आदि कषायों का उदय तो नहीं होता है, परन्तु अति सामान्य याने नगण्य-सा लोभ का अति अंश मात्र रहता है, वह सूक्ष्म संपराय चारित्र है।

(५) जिस चारित्र में कषाय का सर्वथा क्षय हो जाता है, आत्मा जिस चारित्र की प्राप्ति पर घनघाती कर्मों से मुक्त हो जाया करती है, वह यथाख्यात चारित्र है। इसे ही वीतराग-चारित्र भी कहा जाता है।

(६) अंश रूप से व्रत-नियमो की परिपालना करना, अणु-व्रतों की आराधना करना, यही संयतासंयती चारित्र है, यह श्रावक वर्ग का चारित्र है, इसे देश विरति चारित्र भी कहते हैं।

(७) किसी भी प्रकार के व्रत का, नियम का त्याग-प्रत्या-ख्यान का स्वीकार नहीं करना, यही असंयत-अवस्था अविरति कार्य है। यह अवस्था प्रथम गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक मानी जाती है।

(६) ज्ञेय पदार्थ को सामान्य रूप से देखना दर्शन उपयोग है। इसके चार भेद हैं:—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

(१) नेत्र द्वारा देखना चक्षुदर्शन है।

(२) नेत्रों के सिवाय शेष इन्द्रियों और मन द्वारा देखना

अचक्षुदर्शन है।

(३) किसी भी प्रकार की इन्द्रियों और मन की सहायता नहीं लेते हुए केवल आत्मा की शक्ति द्वारा ही मर्यादित रूपी पदार्थों का देखना, अवधिदर्शन है।

(४) सभी रूपी अथवा अरूपी पदार्थों का और उनकी पर्यायों का आत्म-शक्ति द्वारा देखना, केवलदर्शन है।

(६) योग और कषाय की सम्मिलित अवस्था ही लेश्या है। किन्तु शुक्ल लेश्या के सर्वोच्च विकास में कषाय का अभाव हो जाया करता है। मूल रूप में लेश्या दो प्रकार की है, द्रव्य-लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या का तात्पर्य उन पुद्गल परमाणुओं से है, जो कि कषाय का क्रियात्मक उदय होने पर हृदय से एव मन से तथा कर्म-पुद्गलों से मिश्रित आत्म-प्रदेशो में विभिन्न भावना को धारण करते हुए उत्पन्न हुआ करते है और जिनके आधार से कषाय के परिणाम विविध भावनाऐं धारण किया करते है।

लेश्याओं का सामान्य स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

(१) *कृष्ण लेश्या*:—इसका द्रव्य रूप काजल के समान काला होता है और भाव रूप परिणामों से हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन, तृष्णा आदि प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुआ करती हैं। मन, वचन, शरीर के सभी कार्य स्वच्छंदतापूर्वक एवं संयमरहित हो जाया करते है, प्रकृति हल्की वृत्ति वाली बन जाया करती है, और क्रूरता का उदय हो जाया करता है।

(२) *नील लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप अशोक वृक्ष के समान नीले रंग वाला होता है, और भाव रूप अवस्था ईर्ष्यामय, असहिष्णुतामय एवं माया-कपट मय हो जाया करती है। निर्लज्जता के साथ साथ विषय-लालसा, रस-लोलुपता और इन्द्रिय-सुख-भावना पैदा हो जाया करती है।

(३) *कापोत लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप कबूतर के समान लाल और काला रग लिये हुए होता है, और भावरूप अवस्था वक्रता में, नास्तिकता में, कटु-भाषण में, दूसरों को कष्ट पहुँचाने में आदि रूप प्रवृत्तियों में परिणित हो जाया करती है।

(४) *तेजो लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप तोते की चोंच के समान लाल वर्ण वाला होता है, और भाव रूप स्थिति नम्रता, सज्जनता, स्थिरता, धर्म-रुचि, और पर-हित-भावना वाली होती है।

(५) *पद्म लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप हल्दी के समान पीले रंग वाला हुआ करता है। भाव रूप स्थिति कषाय की मंदता, चित्त की शांति, आत्म-संयम, विवेकपूर्ण-संभाषण और इन्द्रिय-विजयता वाली हुआ करती है।

(६) *शुक्ल लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप शंख के समान उज्ज्वल रंग वाला हुआ करता है। भाव रूप धर्म ध्यान वाला और शुक्ल ध्यान वाला हुआ करता है। कषाय या तो पूर्ण क्षीण हो जाता है,अथवा पूर्ण रूपेण उपशान्त हो जाता है। इस अवस्था में वीतराग पद या तो प्राप्त ही हो जाया करता है,

अथवा इसकी प्राप्ति के लिये अनुकूल स्थिति पैदा हो जाया करती है।

चौदह गुणस्थानों में से पहले से लगाकर छट्ठे गुणस्थान तक सत्ता की दृष्टि से छह लेश्याऐं पाई जाती हैं, सातवें गुण-स्थान में तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या ये तीन लेश्याऐ हुआ करती हैं, आठवें गुणस्थान से लगाकर तेरहवें गुणस्थान तक केवल शुक्ल लेश्या ही होती है और चौदहवें गुणस्थानवर्ती आत्माऐं लेश्या से रहित हुआ करती हैं, तदनुसार मुक्त आत्माऐं भी अलेश्या वाली ही होती हैं।

(१०) भव्य मार्गणा के दो भेद हैं:—भव्य और अभव्य। तीसरा विकल्प 'नो भव्य, नो अभव्य' भी है। इनका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) जो आत्माएँ निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं और मोक्ष-पद को अवश्यमेव प्राप्त करेंगी, वे 'भव्य आत्माएँ' हैं। चाहे ऐसी आत्माएँ संसार-समुद्र में असंख्य जन्म-मरण करती हों, किन्तु फिर भी उनमें 'भव्यत्वगुण' अनादि रूप से और स्वाभाविक रूप से रहा हुआ होता है।

(२) जो आत्माएँ किसी भी काल में और किसी भी दशा में एवं कैसी भी उपस्थिति प्राप्त करने पर भी कदापि मोक्ष में नहीं जावेंगी, वे आत्माएँ 'अभव्य' श्रेणि में हैं। ऐसी आत्माओ का जन्म-मरण अनादि रूप और अनन्तरूप हुआ करता है। उनके लिये संसार-समुद्र अपरंपार हुआ करता है। यह 'अभव्य-त्व' नामक स्थिति ऐसी आत्माओं के लिये स्वाभाविक एवं

'आत्म-गुणरूप' हुआ करती हैं, इस 'स्वभाव-वृत्ति' के कारण से ऐसी आत्माओं के लिये कषाय का और मिथ्यात्व का कभी भी अंत नहीं हुआ करता है। इसे प्राकृतिक स्वरूप ही समझ लेना चाहिये।

(३) मुक्त आत्माएँ 'नोभव्य-नोअभव्य' नामक विकल्प के अन्तर्गत समझी जाती है क्योंकि वे कृतकार्य होती हैं। भव्यत्व और अभव्यत्व की कल्पनाएँ सांसारिक दृष्टिकोण से हैं, न कि मुक्त अवस्था के दृष्टिकोण से।

(४) इसी विषय के अन्तर्गत चौथा भेद भी अनेक आचार्यों ने बतलाया है, जो कि 'जाति-भव्य' के नाम से बोला जाता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है:—

अनेक आत्माएँ इस संसार मे ऐसी भी हैं, जो कि भव्यत्व गुणवाली होती हुई भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करेंगी, इसका कारण यह है कि उन्हें मोक्ष-प्राप्ति की सामग्री रूप सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का संयोग किसी भी दशा में नहीं होगा। जैसे कि किसी पतिव्रता स्त्री का पति मर जाय और वह स्त्री विधवा हो जाय, तो क्या अब ऐसी स्थिति में उसके संतान उत्पन्न होने की संभावना रहती है ? संतान उत्पन्न होने की संभावना रहती है ? संतान उत्पन्न करने की शक्ति, आयु, स्वास्थ्य आदि सभी सामग्री मौजूद होने पर भी संतान की उत्पत्ति की कोई भी संभावना शेष नहीं रहती है, उसी प्रकार से उन भव्यत्व गुण वाली आत्माओं के लिये भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र को प्राप्ति का कोई संयोग प्राप्त होने वाला नहीं होता है, और

ऐसे कारणों से वे भव्य होते हुए भी 'जाति-भव्य' के नाम से पुकारे जाते हैं। इसी संबंध में 'सोने की मिट्टी' और 'मेरू-पर्वत के मूल के पत्थर' का दृष्टान्त भी दिया जाता है, जिसे स्वयमेव समझ लेना चाहिये।

(१२) संज्ञी मार्गणा के तीन विकल्प कहे गये हैं:— (१) संज्ञित्व, (२) असंज्ञित्व और (३) नो संज्ञित्व, नो असंज्ञित्व।

'संज्ञा' शब्द का तात्पर्य चेतना-शक्ति से संबंधित है।

(१) जिन आत्माओं की चेतना-शक्ति अपेक्षाकृत अधिक विकसित होती है, वे संज्ञित्व की कोटि में हैं। और इनकी संज्ञा दीर्घकालिकी संज्ञा कहलाती है।

(२) जिन आत्माओं की चेतन-शक्ति मूर्छित की तरह चेष्टारहित और अत्यंत अल्पविकास वाली होती है, उसे ही 'असंज्ञित्व' कहा जाता है। इस 'असंज्ञित्व' धर्म का ही दूसरा नाम 'ओघसंज्ञा' है।

संज्ञित्व और असंज्ञित्व की अनेक श्रेणियाँ हुआ करती हैं, जोकि चेतना-शक्ति की न्यूनाधिक विकास-अवस्था को बतलाया करती हैं।

मुक्त-आत्माएँ परिपूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण चेतना-शक्ति वाली होती हैं, अतएव उन्हें 'नो संज्ञी-नो असंज्ञी' कहा जाता है।

(१३) नव तत्त्वो पर, षट्-द्रव्यों पर, जिन-वचनों पर, एवं आत्मा-ईश्वर आदि आस्तिक सिद्धान्तों पर पूरा पूरा

विश्वास उत्पन्न होना ही 'सम्यक्त्व' है।

सम्यक्त्व के मुख्यरूप से छह भेद बतलाये गये हैं:—
(१) सास्वादन सम्यक्त्व, (२) मिश्र सम्यक्त्व, (३) औपशमिक सम्यक्त्व, (४) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (५) वेदक सम्यक्त्व, और (६) क्षायिक सम्यक्त्व।

(१) उपशम सम्यक्त्व से गिरते समय और मिथ्यात्व की ओर आते समय जब तक मिथ्यात्व नहीं प्राप्त हो जाय, तब तक मध्यमवर्ती समय में जीव के जो परिणाम रूप भावनाएँ हुआ करती हैं, उन भावनाओं को ही सास्वादन सम्यक्त्व कहना चाहिये।

(२) खट्टे दही में शक्कर डालने से जैसे स्वाद की दशा खट्टी-मीठी रूप मिली-जुली हो जाती है, उसी प्रकार से तत्त्व की ओर एवं अतत्त्व की ओर तथा झूठ की ओर एव सच्चाई की ओर दोनों तरफ जीव के परिणाम रूप भावनाओं की स्थिति डोलायमान रहती है, किसी भी एक ओर निश्चयात्मक नहीं रहती है, ऐसी भावनाओं की स्थिति का नाम ही मिश्र सम्यक्त्व है।

(३) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय इन सात प्रकृतियों के उपशम होने पर जीव के परिणामों की जो भावनाऐं हुआ करती हैं, उन्हें ही 'औपशमिक सम्यक्त्व' कहा जाता है।

(४) उपरोक्त सातों प्रकृतियों में से कुछ के उपशम होने पर एवं कुछ के क्षय होने पर जीव के परिणामों की जो भावनाएं हुआ करती हैं, उन्हे ही 'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व' कहा जाता है ।

(५) क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व क्षणों में जीव के परिणामों की जो भावनाएँ हुआ करती है, यही 'वेदक-सम्यक्त्व' है ।

(६) औपशमिक सम्यक्त्व की दशा में उपशांत होने वाली सातों मोहनीय प्रकृतियो का जड़-मूल से नाश होने पर अर्थात इनका आत्यंतिक क्षय होने पर जीव के परिणामों वाली जो उत्कृष्ट सुन्दर भावनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं, उन्हें ही 'क्षायिक-सम्यक्त्व' कहा जाता है ।

सास्वादन सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट छह आवलिकाओं की हुआ करती है । इस सम्यक्त्व में अनन्तानुबंधी कषायों का उदय रहता है, यही कारण है कि इसके समय मे आत्मा की भावनाएँ निर्दोष नहीं रहा करती हैं और अव्यक्त रूप से तत्त्वों के प्रति विपरीत वृत्ति रहा करती है ।

औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति चौथे गुणस्थान से लगा कर ग्यारहवें गुणस्थान तक मानी जाती है ।

औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अस्थायी हुआ करती है, अतएव इस सम्यक्त्व का स्वामी या तो क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है, या सास्वादन सम्यक्त्व की प्राप्ति किया करता है ।

औपशमिक सम्यक्त्व के समय में आयु का बन्धन, मृत्यु का योग, अनन्तानुबंधी कषाय का वन्धन और अनन्तानुबंधी कषाय का उदय; ये चार बातें नहीं हुआ करती हैं। परन्तु इस सम्यक्त्व से गिरावट होते ही एवं सास्वादन सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही उपरोक्त चारों बातों का योग बन सकता है।

क्षायिक सम्यक्त्व सर्वोत्कृष्ट सम्यक्त्व है, इसकी प्राप्ति तीर्थंकर, अरिहंत अथवा केवली महापुरुषों की उपस्थिति में ही हुआ करती है, इस सम्यक्त्व का इतना महान् प्रभाव और महात्म्य है कि इस सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाली आत्मा ने यदि अगले भव का आयु-बंधन नहीं किया हो तो वह उसी भव में मोक्ष-जाने वाली हुआ करती है, और यदि इस सम्यक्त्व की प्राप्ति के पहले ही आयु-बंधन कर लिया हो तो तीसरे भव में वह आत्मा अवश्यमेव मोक्ष-गामिनी हुआ करती है।

(१४) किसी न किसी प्रकार के आहार को ग्रहण करना, यही 'आहारकत्व' है।

आहार तीन प्रकार का कहा गया है:—(१) ओज आहार (२) लोम-आहार और (३) कवल आहार।

(१) गर्भ में उत्पन्न होने के समय माता-पिता के वीर्य-रज रूप जिस अंश को कार्मण शरीर की शक्तिद्वारा आहार रूप में ग्रहण किया जाता है, वही ओज आहार है।

(२) स्पर्शना इन्द्रिय द्वारा पुद्गल के जिस अंश को आहार रूप में ग्रहण किया जाता है, वही लोम आहार है।

(३)अन्न, पानी आदि खाद्य एवं पेय पदार्थों का मुख द्वारा आहार रूप में ग्रहण किया जाना ही कवल आहार है।

आहारक मार्गणा के तीन विकल्प किये गये हैं:— (१) आहारक, (२) अनाहारक, और (२) नो आहारक नो अनाहारक।

(१) जो जीव ओज, लोम, कवल, इन तीनों में से किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण करता है, वह आहारक है।

(२) जो जीव उपरोक्त तीनों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करता है, वह 'अनाहारक' है।

अनाहारक आत्माएँ दो प्रकार की हैं.—एक तो विग्रहगति करते समय की जीवात्माएँ और दूसरे केवली समुद्घात करते समय की जीव- आत्माएँ! विग्रह गति में भी जो वक्रगति वाली हैं और जिन्हें विग्रह गति को पार करने में क्रम से तीन समय अथवा चार समय जितना काल लगता है, वे जीव क्रम से एक समय तक अथवा दो समय तक अनाहारक रहते हैं। ऋजुगति वाले जीवो के लिये और वक्रगति वाले जीवों के लिये प्रथम समय में और अंतिम समय में इस कारण से अनाहारक अवस्था मानी गई है कि- ये जीव विग्रहगति के प्रथम समय में तो जिस शरीर को छोड़कर गमन किया करते है वहाँ से आहार-योग्य पुद्गलों का आहार करके ही चला करते हैं और विग्रहगति को समाप्ति पर अंतिम समय में नया शरीर धारण करते समय कार्मण शरीर की शक्ति द्वारा तत्काल आहार कर लिया करते है। अतएव दो समय की विग्रहगति वाले जीव

आहारक ही होते हैं और जिन्हे विग्रहगतियों में तीन, चार अथवा किसी किसी के मतानुसार पाँच समय तक जितना काल लगा करता है, वे ही जीव आदि-अंत के समय को छोड़कर शेष बचे हुए समय में वक्रता के अनुसार-घुमाव के अनुसार-लगने वाले समयों में क्रम से एक, दो अथवा तीन समय तक अनाहारक ही रहा करते हैं। शेष संपूर्ण सांसारिक अवस्थाओं में सभी सांसारिक जीव आहारक ही हुआ करते हैं। केवलीसमुद्-घात करते समय में भी तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में वे वीतराग आत्माएँ अनाहारक ही मानी गई हैं।

मुक्त आत्माएँतो 'नो आहारक, नो अनाहरक' होती हैं।

॥ इति शुभम् ॥

परिशिष्ट

प्रमाण-नय की शास्त्रीय-समीक्षा

●

ज्ञान-वाद

दीर्घतपस्वी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी ने भगवती सूत्र के दूसरे शतक के दसवें उद्देशे में "उवओग-लक्खणे जीवे" सूत्र का प्रवचन करके अखिल जगत् की दार्शनिकता को गागर में सागर के समान सम्बद्ध कर दिया है। उपरोक्त सूत्र का तात्पर्य यही है कि "ज्ञान ही जीव का मूलभूत धर्म अथवा लक्षण" है।

यह लक्षण चेतन-तत्त्व बनाम आत्मा का असाधारण धर्म है। जो जिसका असाधारण धर्म होता है वह कदापि और किसी काल में भी उससे अलग नहीं हुआ करता है। क्योंकि धर्म-धर्मी का ऐसा सम्बन्ध तादात्म्य और तद्रूप होता है। इस प्रकार आत्म-तत्त्व की सिद्धि में अनादि-अनन्त काल से यह 'ज्ञान' धर्म ही अमोघ अस्त्र सिद्ध हुआ है।

आत्मा और ज्ञान संमिश्रित रूप से एक ही वस्तु है, ऐसा नैगम-नय का मन्तव्य है, जो कि सर्वाङ्ग रूप से सत्य और परिपूर्ण है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में ज्ञान-प्रदेशों का अंश रहा हुआ है। एक भी प्रदेश आत्मा का ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञान का अंश न हो। इस तरह से प्रत्येक आत्मा एक परिपूर्ण, अखण्ड, अछेद्य, अभेद्य, अक्षय, शाश्वत, नित्य और अविभाज्य तत्त्व है। तदनुसार ज्ञान भी एक परिपूर्ण, अखण्ड, अविभाज्य, अक्षय, नित्य और शाश्वत धर्म है। किन्तु संसार में विभिन्न आत्माओं में ज्ञान-सम्बन्धी जो विभिन्नताएँ तथा अल्प-बहुत्व स्थिति पाई जाती है, उसका मौलिक कारण सभी सांसारिक आत्माओं में समान और अनन्त ज्ञान होने पर भी कर्मों के कारण से, वासनाओं और संस्कारों के कारण से ज्ञान की प्रछन्नता और अप्रछन्नता ही है। इसे ही अविकास तथा विकास अवस्था कहते हैं। जैसे-सूर्य की स्थिति बादलों के योग से विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार की धूप और छाया के रूप में रहती है, किन्तु मूल में धूप और सूर्य एक ही वस्तु है, एवं संयोग-वियोग के कारणों से जैसे विभिन्नता पैदा हो जाती है, वैसे ही ज्ञान और आत्मा के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

प्रत्येक संसारी आत्मा में ज्ञान के विभिन्न दर्जे दिखाई देते हैं, तदनुसार ज्ञान की अनेक कोटियाँ प्रतीत होती हैं, परन्तु शास्त्रकारों ने स्थिति को बोधगम्य रूप देने के लिए ज्ञान के मूल पाँच भेद और इनके कुछ प्रभेदों का कथन किया है। ये भेद—प्रभेद ज्ञान को विकसित अथवा अविकसित स्थिति मात्र हैं, न कि स्वतन्त्र तत्त्व हैं। ज्ञान, प्रमाण, नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद,

उपयोग, आदि विभिन्न शब्द मूल में एकार्थक, एक भाववाची, एवं स्व-पर-निश्चायक होते हुए भी विभिन्न काल में और भिन्न-भिन्न युगों मे प्रचलित विचार-धाराओं तथा साहित्यिक-परम्पराओं के बोधक, विवेचक और प्रदर्शक हैं।

ज्ञान और उपयोग शब्द विशुद्ध आध्यात्मिकता से संबंध रखने वाले हैं। नय शब्द भगवान् महावीर स्वामी के युग में प्रचलित धर्मों को समन्वय करने की दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। प्रमाण, सप्तभंगी और स्याद्वाद आदि शब्द मुख्यतः मध्य-युग में उत्पन्न तार्किक संघर्षण से सम्बन्धित हैं। इस कथन के अनुसार उपरोक्त ज्ञान श्रेणियों के भेद तथा प्रभेद वाचक शब्दों का निर्माण भी विभिन्न विचार-धाराओं के संघर्षण से और इनका समन्वय करने की दृष्टि से हुआ है।

जैन-आगम-ग्रन्थों में और जैन-साहित्य-ग्रन्थों में ज्ञान-विवेचन सम्बन्धी दो पद्धतियाँ पाई जाती हैं। एक तो आगमों से सम्बन्ध रखने वाली है, जब कि दूसरी न्याय-शास्त्र से संबंध रखती है। आगम अर्थात् शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली पद्धति के भी दो रूप मिलते हैं। एक विशुद्ध शास्त्रीय पद्धति और दूसरी न्याय-साहित्य अथवा तर्क-साहित्य से मिश्रित शास्त्रीय पद्धति। विशुद्ध शास्त्रीय पद्धति में ज्ञान के स्पष्टतः पाँच भेद किये गये हैं, जो कि मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान और केवलज्ञान के नाम से सर्व विदित हैं। इनको आगमिक याने शास्त्रीय रूप देने का कारण यह है कि आत्मा की मूलभूत शुद्धि अथवा अशुद्धि के विवेचन में जो कर्म-सिद्धान्त का वर्णन किया जाता है, उसमें ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद उपरोक्त पाँचों ज्ञान-भेदों के अनुसार किये जाते हैं। जब कि तर्क-साहित्य अथवा न्याय-साहित्य में ज्ञान को

प्रमाण शब्द से सम्बोधित किया जाता है और मूल में इसके सर्व प्रथम केवल दो भेद ही किये जाते हैं। जैसे कि प्रत्यक्ष और परोक्ष। और इसके बाद ही इन दोनों भेदों में उपरोक्त पाँचों ज्ञानों का विभाजन कर दिया जाता है।

यह भी विचारणीय है कि कर्म सिद्धान्त के विवेचन में प्रत्यक्षावरण और परोक्षावरण जैसे भेदों का नाम-निर्देश नहीं है। यही कारण है कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान-सम्बन्धी पाँचों भेद वाली प्रणाली विशुद्ध आगमिक याने शास्त्रीय प्रणाली है। एवं प्रत्यक्ष तथा परोक्ष भेद वाली प्रणाली विशुद्ध तार्किक प्रणाली है। यदि ज्ञानावरण कर्म के भेद प्रत्यक्षावरण और परोक्षावरण के रूप में किये जाते तो यह कथन तर्कशैलीप्रधान ज्ञान-विवेचन प्रणाली कहलाता। परन्तु ऐसा नहीं होने से यह अति विशुद्ध और प्राचीन आगमिक ज्ञान-प्रणाली है, जो कि जैन-साहित्य की परम्परा में सर्वाधिक सर्वमान्य संप्रणाली है।

तर्कांश मिश्रित आगमिक-ज्ञान-पद्धति में ज्ञान रूप प्रमाण के चार विभाग किये गये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। तदनुसार शास्त्रीय ज्ञान-भेदों का समावेश प्रत्यक्ष में समझना चाहिए और शेष भेद तर्क-संघर्ष से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा समझा जाना चाहिए। श्री ठाणांग सूत्र में "प्रत्यक्ष और परोक्ष" तथा "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम" इस प्रकार दोनों भेद वाली प्रणाली का उल्लेख पाया जाता है। इसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष नामों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह परिवर्तन तर्क-संघर्ष से जनित साहित्य का परिणाम है। श्री भगवती सूत्र में केवल चार भेद वाली प्रणाली का उल्लेख पाया जाता है। श्री

अनुयोगद्वार सूत्र में चार भेद वाली प्रणाली का विवेचन किया जाकर प्रत्यक्ष भेद को दो भागों में बाँट दिया गया है। एक सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष। पहले भाग में मति और श्रुत का समावेश किया गया है, जब कि दूसरे में अवधि आदि तीन भेदों का समावेश कर दिया गया है।

श्री नन्दी सूत्र में भी अनुयोगद्वार के समान ही प्रत्यक्ष के दो भेद किये जाकर एक में मतिज्ञान को और दूसरे में अवधि आदि तीन को रक्खा है। किन्तु परोक्ष वर्णन में पुनः मति-श्रुत दोनों का समावेश कर दिया है, यह अनुयोगद्वार सूत्र की अपेक्षा नन्दीसूत्र की विशेषता है। इस प्रकार आगम-सूत्रों में भी तर्क-साहित्य मिश्रित ज्ञान-विवेचन-प्रणाली का उल्लेख पाया जाता है, जिसका यह स्थूल रेखा-दर्शन उपरोक्त रीति से है।

विशुद्ध तार्किक ज्ञान-विवेचन प्रणाली का एक ही रूप पाया जाता है और वह है प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद वाली प्रणाली। सम्पूर्ण जैन संस्कृत वाङ्मय में सर्व प्रथम यह प्रणाली आचार्य उमास्वाति कृत "तत्त्वार्थ-सूत्र" में पाई जाती है। समर्थ आगमिक विद्वान् जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण और सुप्रसिद्ध जैन-नैयायिक दिगम्बर आचार्य भट्ट अकलंक देव ने इस प्रणाली का विश्लेषण करके इसका पूर्ण रीत्या समर्थन किया है। तत्पश्चात् श्री जिनेश्वर-सूरि, श्री वादिदेवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र और उपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि श्वेताम्बरपक्षीय जैन आचार्यों ने और श्री माणिक्यनन्दी, तथा श्री विद्यानन्द आदि दिगम्बरपक्षीय जैन आचार्यों ने भी अपने-अपने न्याय-ग्रन्थों में इस प्रणाली को पूरी तरह से संगुफित कर दिया है, जो कि जैन तर्क-साहित्य

में सदैव के लिए सर्व-मान्य सिद्धान्त के रूप में संस्थापित हो गया है।

उपरोक्त तार्किक-ज्ञान-प्रणाली में प्रत्यक्ष के दो भाग किये गये हैं, सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। सांव्यवहारिक में मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान को स्थान दिया गया है। जब कि पारमार्थिक में अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञान को प्रस्तावित किया गया है। इस तरह से आगमिक ज्ञान-विवेचन-प्रणाली की रक्षा करते हुए तार्किक-संघर्ष से उत्पन्न प्रमाण के भेदों का समावेश परोक्ष के अन्तर्गत कर दिया गया है। जैनेतर दार्शनिकों ने जिन "स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, उपमान, अनुमान, सम्भव, ऐतिह्य, सादृश्य" आदि आदि अनेक ज्ञान-भेदों की कल्पना की है, उन सब का समावेश भी परोक्ष के अन्तर्गत ही कर लिया गया है।

जैन-दृष्टि से परोक्ष के केवल पाँच भेद ही किये गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं:—

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रमाण-वर्ग को यानि ज्ञान-विवेचन को जैन-न्यायाचार्यों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में सुव्यवस्थित रीति से संयोजित कर दिया है, जो कि अखिल जैन-साहित्य में निर्विवाद रूप से सर्व-मान्य हो चुका है।

आगमिक ज्ञान-भेदों के पुनः अनेक प्रभेद किये गये हैं, जैसे कि मतिज्ञान के ३४० भेद, श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद, अवधिज्ञान के छह भेद किये गये हैं, जो कि ग्रन्थान्तर से ज्ञेय हैं। केवलज्ञान तो परिपूर्ण और भेद रहित ही है। इस प्रकार

आत्म-तत्त्व का असाधारण धर्म और मौलिक गुण जो कि ज्ञान रूप है, वह आदर्श-दृष्टि से एक, अखण्ड, परिपूर्ण, अछेद्य, अभेद्य, अविभाज्य, शाश्वत, अक्षय, नित्य और सदा स्वयमेव स्वाश्रित होता हुआ भी साहित्यकारों द्वारा और आचार्यों द्वारा भेद रूप में वर्णित किया गया है, उसका एक मात्र कारण, आत्मा के साथ संलिप्त कर्म अथवा वासनाएँ और संस्कार ही हैं। इनके बल से ही एक और परिपूर्ण होता हुआ भी खण्डित और अपूर्ण प्रतीत होता है। इन्हीं कारणों से जन-साधारण को समझाने के लिए अखण्ड वस्तु के भी खण्ड-खण्ड किये जाते हैं और विभिन्न कल्पनाओं द्वारा इस प्रकार की विवेचना करनी पड़ती है।

नय-वाद

नय-वाद की विकास-प्रणाली प्रमाणवाद की विकास प्रणाली के समान विस्तृत नहीं है। मूल आगम ग्रन्थों में सात नयों का उल्लेख पाया जाता है और यही बात दिगम्बर साहित्य की परम्परा को भी मान्य है। जैन-न्याय साहित्य के आदि प्रणेता आचार्य-प्रवर सिद्धसेन दिवाकर छह नय ही मानते हैं। ये आचार्य नैगम-नय को स्वतन्त्र नय की कोटि में नहीं गिनते हैं। द्रव्यार्थिक दृष्टि की मर्यादा संग्रह नय और व्यवहार नय तक ही स्वीकार करते हैं। शेष चार नयों को पर्यायार्थिक दृष्टि की मर्यादा के अन्तर्गत समझते हैं। इन आचार्य से पूर्व कोई षट् नयवादी था या नहीं, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। इसलिए यह

कहा जाता है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही सर्वप्रथम षट् नयवाद की मान्यता के प्रवर्तक हैं।

प्राचीन परंपरा द्रव्यार्थिक दृष्टि की मर्यादा ऋजु-सूत्र नय तक स्वीकार करती है, किन्तु सिद्धसेन-काल के पश्चात् यह मर्यादा व्यवहार नय तक ही अनेक आचार्यों द्वारा स्वीकार कर ली गई है। अंतिम समर्थ आगमिक विद्वान् जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमण और प्रचण्ड नैयायिक श्री विद्यानन्द आदि आचार्यों द्वारा चर्चित नयवाद की चर्चा उपरोक्त नयवाद के कथन का समर्थन करती है।

आगम प्रसिद्ध सप्त नयवाद और सिद्धसेनीय षट् नयवाद के अतिरिक्त जैन-संस्कृत-साहित्य के सर्व प्रथम प्रवर्तक वाचक उमास्वाति की तीसरी नयवाद की भेद-प्रणाली भी देखी जाती है, ये 'नैगम से शब्द नय' तक पाँच नय स्वीकार करते हैं और अन्त में शब्द नय के तीन भेद करके आगम प्रसिद्ध शेष दो नयों का भी इस शब्द नय में समावेश कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि इन तीनों परम्पराओं में केवल विवेचन-प्रणाली की भिन्नता है, तात्त्विक दृष्टि से इनमें कोई खास उल्लेखनीय भिन्नता नहीं है।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में होने वाले, दार्शनिक जगत् के महान् विद्वान् और प्रबल वाग्मी श्री वादिदेवसूरि आगम-प्रसिद्ध नयवाद-प्रणाली का समर्थन करते हुए नैगम, संग्रह, व्यवहार, और ऋजु सूत्रनय को 'अर्थ-नय' की कोटि में रखते हैं और 'शब्द-नय, समभिरूढ़, तथा एवंभूतनय' को 'शब्द-नय' की कोटि में गिनाते हैं। किन्तु पुनः पूर्व तीनों नयों

को 'द्रव्यार्थिक' की श्रेणी में रख कर और शेष चार को 'पर्यायार्थिक' की श्रेणी में रखते हुए सिद्धसेनीय मर्यादा का समर्थन करते हैं। इस प्रकार उपरोक्त तीन प्रकार की परम्पराएँ नयवाद के सम्बन्ध में पाई जाती हैं।

जिस रीति के द्वारा वस्तु का पूर्ण रूप देखा जाता है या जाना जाता है, वह तो प्रमाण है और जिस रीति के द्वारा वस्तु के एक अंश का ही ज्ञान किया जाय और बाकी के अंशों पर उदासीनता के भाव रक्खे जाँय, वह रीति नय है।

नय रीति में वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का विचार किया जाता है, और बाकी के धर्मों पर तटस्थ भाव रखा जाता है। किन्तु यदि कोई वस्तु के एक धर्म पर विचार करता हुआ उसी वस्तु में रहे हुए बाकी के धर्मों का सर्वथा निषेध करदे तो उस समय वह सच्चा नय नहीं होकर झूठा नय कहा जायगा, जिसे कि शास्त्रीय भाषा में नयाभास कहा जाता है।

प्रमाण वस्तु के सभी धर्मों का एक रूप में ही विचार करना है। जब कि नय सभी धर्मों का अलग-अलग विचार करता है। इससे प्रमाणित होता है कि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में स्याद्वाद को ध्यान में रखते हुए कोई एक बात कहना अथवा जानना "नय" कहा जायगा। इसलिए जितने भी वचन हैं, उतने ही नय भी हो सकते हैं। तदनुसार नय के असंख्यात अथवा अनन्त भेद भी हो सकते हैं, क्योंकि वचन-प्रणाली असंख्यात अथवा अनन्त रूप है, ऐसी परिस्थिति होने पर भी शास्त्रकारो ने

नय को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा है, द्रव्य नय और पर्याय नय।

प्रत्येक द्रव्य के सामान्य धर्म को बतलाने वाला ज्ञान द्रव्य नय है और उसी द्रव्य के पर्याय धर्म को बतलाने वाला ज्ञान पर्याय नय है। जैसे "जीव मे ज्ञान है" यह उदाहरण द्रव्य नय का है, क्योंकि जीव के अनेक धर्मों में से सिर्फ ज्ञान धर्म का ही यहाँ पर कथन है, शेष धर्मों पर तटस्थ भाव है। इसी प्रकार जीव में मति ज्ञान है, यह दृष्टान्त पर्याय नय का है, क्योंकि "ज्ञान-धर्म" की मति ज्ञान रूप पर्याय का यहाँ पर कथन है। शेष धर्मों पर तटस्थ भाव है। द्रव्य-नय और पर्याय नय का पूरा नाम द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय है।

उपरोक्त विवेचन से प्रमाणित है कि एक ही पदार्थ के सम्बन्ध में हजारों प्रकार के विचारों को अनेकांत दृष्टि से सत्य रूप प्रदान करने वाला विचार ही 'नय' है। विरोध को भी अविरोध बना देना "नय" का ही काम है। अनेक धर्मों की अलग-अलग कल्पनाओं को भी सत्य साबित कर देना नय की मूलभूत विशेषता है। "ईश्वर कर्त्ता है" और "ईश्वर कर्त्ता नहीं है" ऐसी विरोधी वचन प्रणाली को भी नय सत्य रूप प्रदान करता है। "ईश्वर कर्त्ता है"—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा स्वयमेव ईश्वर रूप ही है, और इसलिए वह सुख-दुःख, जन्म-मरण का कर्त्ता है ही। इसी प्रकार "ईश्वर-कर्त्ता नहीं है"—इस कथन का अर्थ यह है कि मोक्ष गत आत्मा कर्म रहित होने से किसी भी प्रकार का कर्त्ता नहीं है। इस अपेक्षामय

वचन पद्धति द्वारा विरोधी वाक्यों अथवा विरोधी सिद्धान्तों को भी विरोध रहित बना देना "नय" का ही मंगलमय आशीर्वाद है। निष्कर्ष यह है कि अपेक्षा के साथ विवेचन करने वाला वचन सत्य नय है और अपेक्षा का परित्याग करते हुए कथन किया जाने वाला वचन झूठा नय अथवा नयाभास है। सत्यवचन अथवा नय-सिद्धान्त जैन-दर्शन की अत्यन्त उल्लेखनीय विशेषता है, जो कि अन्य दर्शनों में नहीं पाई जाती है।

समुद्र के एक बिन्दु जल को न तो समुद्र नाम दिया जाता है और न उसे असमुद्र ही कहा जा सकता है, बल्कि उसे समुद्र का एक अंश ही कहेंगे। इसी प्रकार नय-विचार भी न तो श्रुत-ज्ञान है और न अश्रुत-ज्ञान ही। बल्कि श्रतज्ञान का यह एक अंशमात्र है। इस प्रकार मत-मतान्तरों को मान्यता को और अलग-अलग आदमियों की विरोधी समझ को अपेक्षावाद द्वारा समझाने के लिए ही नय-वाद' का वर्णन आदरणीय गणधरों ने जैन-शास्त्रों में किया है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के सात्त भेद श्री अनुयोग-द्वार और श्री ठाणांग सूत्र में इस प्रकार बतलाये हैं—"सत्तमूल-णया पण्णत्ता—तंजहा—णेगमे, सगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढ़े, एवंभूए। अर्थात् नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवभूत।

जो विचार लोकरूढ़ि अथवा लोक संस्कार का आधार रखकर कहा जाय अथवा जिसमें द्रव्य और पर्याय का अभेद मानकर कथम किया जाय, वह नैगम नय है। जैसे—किसी ने

चावल साफ करने वाले को पूछा कि क्या कर रहे हो ? तो उत्तर दिया कि भात तैयार कर रहा हूँ। यहाँ पर चावल साफ करने और भात तैयार करने में अभेद कल्पना है।

चैत सुदी १३ को महावीर जयंती मानना, इस प्रकार प्रत्येक वर्ष की चैत सुदी १३ के साथ महावीर-जन्म की कल्पना भी अभेद कल्पना है। यह सब नैगम नय की विचारणा है।

अलग-अलग अनेक प्रकार की वस्तुओं को अथवा जीव-भेदों को या भिन्न-भिन्न विषयों को एक रूप में कहने वाला वचन संग्रह नय है। जैसे द्रव्य सत् रूप है। यहाँ पर छह ही द्रव्यों का संकलन करके उन्हे 'सत्' वचन से कहा गया है। ससारी जीव दुःखी है। यह कथन भी चारों गतियों के जीवो को केवल 'संसारी-जीव' शब्द से संकलित किया जाकर बोला गया है।

व्यवहार नय का तात्पर्य यह है कि संग्रह नय द्वारा कहे हुए विचारों में अथवा प्रणाली में व्यवस्थित रीति से भेद करना। जैसे द्रव्य सत् रूप होते हुए भी वह छह प्रकार का है। ससारी जीव भी चार प्रकार के होते हैं। यह ढंग व्यवहार-नय का है।

नैगमनय का विचारक्षेत्र संग्रह और व्यवहार की अपेक्षा से अधिक विस्तृत है। क्योंकि नैगम सामान्य और विशेष दोनों धर्मो को कहीं मुख्य रूप से और कहीं गौण रूप से बतलाता है। जब कि संग्रहनय केवल सामान्य रूप को ही बतलाता है। इसी तरह से संग्रहनय का विषय व्यवहार से अधिक विस्तृत दायरे वाला

है। क्योंकि व्यवहार तो संग्रह के द्वारा कहे हुए विचारों को ही व्यवस्थित रीति से विभाजित करता है। तीनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामान्य, विशेष अथवा उभय को जानने वाले नैगम का अनुयायी संग्रहनय है। और संग्रह का अनुयायी व्यवहार नय है। व्यवहार का आधार ही संग्रह है। इन तीनों का दृष्टिकोण मुख्यतः कम-ज्यादा रूप में समुच्चय रूप ही होता है, अतः ये तीनों द्रव्यार्थिक नय के भेद माने जाते हैं।

पर्यायार्थिक नय का मूलभूत आधार पर्याय रूप होता है, अतः यह पर्यायों की दृष्टि से असमुच्चय रूप होता है। इसके चार भेद कहे गये हैं।

जो नय भूत-भविष्य को गौण करके केवल वर्तमानकाल की पर्याय का ही विचार करता है, वह ऋजुसूत्र नय है। जैसे आत्मा मनुष्य रूप है, यहाँ पर आत्मा की अन्य गतियों को गौण करके केवल मनुष्य पर्याय को ही मुख्यता दी है। जो दृष्टिकोण एक ही पदार्थ में केवल व्याकरण के आधार से ही—काल, कारक, लिंग आदि के भेद से पदार्थ को अनेक रूप माने, वह दृष्टिकोण शब्द नय है। जैसे भारतवर्ष था, भारतवर्ष है, और भारतवर्ष रहेगा। इस कथन में इस नय की दृष्टि से भारतवर्ष तीन देश हैं, न कि एक ही देश है। जो दृष्टिकोण केवल पर्याय-वाचक शब्दों के आधार से एक ही पदार्थ को भी भिन्न-भिन्न पदार्थ के रूप में मानें, वह समभिरूढ़ नय है। जैसे पयोधि, सागर और रत्नाकर, तीनों समुद्रवाची शब्द हैं और तीनों का अर्थ एक ही है, फिर भी यह नय इन्हें भिन्न-भिन्न पदार्थ के रूप में बयान करता है।

जो विचार पदार्थ को नामानुसार क्रिया करने पर ही उसको उस पदार्थ रूप में मानता है और क्रिया के अभाव में उसको उस संज्ञा से ही बतलाने से इन्कार कर देता है, वह एवंभूतनय है। ये चारों पर्यायार्थिक नय हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध विशुद्ध रूप में केवल पर्यायों तक ही है। एवंभूतनय से समभिरूढ़ का विषय अधिक विस्तृत है, क्योंकि एवंभूत तो नामानुसार काम करने पर ही पदार्थ को पदार्थ मानता है। जब कि समभिरूढ़ काम के अभाव में भी पदार्थ को पदार्थ तो मानता है।

समभिरूढ़ से शब्द नय अधिक विस्तृत विषय वाला है, क्योंकि समभिरूढ़ तो पर्यायवाची शब्दों के भेद से ही पदार्थ में भेद बतलाता है, जब कि शब्द नय पर्यायवाची शब्दों के आधार से पदार्थ में भेद-कल्पना नहीं करता है।

शब्द नय से ऋजुसूत्रनय अधिक विषय वाला है, क्योंकि शब्द नय तो व्याकरण के भेद से ही एक पदार्थ में भिन्न-भिन्न की कल्पना कर लेता है। किन्तु ऋजुसूत्र ऐसा नहीं करता है।

पहले से चार तक के नयों को अर्थनय भी कहते हैं, क्योंकि ये पदार्थ से ताल्लुक रखते हैं। जब कि शेष तीन को शब्दनय कहते हैं। क्योंकि ये व्याकरण सम्बन्धी भेदों के आधार से एक ही पदार्थ में भिन्न-भिन्न पदार्थ की कल्पना कर लेते हैं।

नय विशेष दृष्टिकोण ही है, जिस दृष्टि का आधार लेकर कहा जाय, वही दृष्टि नय विशेष रूप है। यह सदैव ध्यान में रहे कि नय अपेक्षापूर्वक कहा गया वचन ही है। और इसी स्थिति

में ही यह सच्चा तथा माननीय है, अपेक्षा का परित्याग करके कहा जाने वाला मन्तव्य नय रूप नहीं होगा, बल्कि वह झूठा वचन और हठाग्रह कहा जायगा। नय सिद्धान्त जैन दर्शन की विचार-धारा का एक प्रमुख भाग है, विभिन्न दार्शनिक संघर्षमय विचारों को अपेक्षावाद के एक ही प्लेट-फॉर्म पर लाकर संघर्ष को समाप्त कर देना ही नयवाद का तात्पर्य है। यह दृष्टि को विस्तृत करने वाला है और प्रेम को बढ़ाने वाला है।

स्याद्वाद की पृष्ठभूमि

प्रमाण और नय की सम्मिलित स्थिति का ही नाम स्याद्वाद है, अतएव स्याद्वाद की ऐतिहासिकता और इसकी विकास-स्थिति पर मीमांसा पूर्वक विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाणकाल से लगा कर वीर की सातवीं शताब्दी तक अथवा विक्रम की दूसरी तीसरी शताब्दी तक का युग साहित्य की दृष्टि से आगम-प्रधान युग रहा है। क्योंकि इस युग में मूल-आगम और आगमिक विषय को स्पष्ट करने वाली निर्युक्तियाँ एवं चूर्णियाँ ही इस युग की साहित्यिक सीमाएँ रही हैं, यह युग तपस्या-प्रधान और चारित्र-प्रधान था, अतएव आगम-ज्ञान ही जनता के लिये और साधुओं के लिए पर्याप्त साहित्य-सीमाएँ थीं। इस युग तक विविध साहित्यिक ग्रन्थों की उतनी आवश्यकता नहीं मानी जाती रही, जितनी कि उत्तर काल में और मध्यकाल में आवश्यकता समझी गई।

वीर-निर्वाण के सात सौ वर्ष बाद ही विविध वर्गीय साहित्य की रचना किया जाना प्रारम्भ हुआ, इस प्रकार ज्यों-ज्यो समय बीतता गया त्यों-त्यों जैन-साहित्य विविध रूपों में पल्लवित, विकसित और प्रौढ़ होता गया। साहित्य के सभी विभागों पर गद्य और पद्य में, संस्कृत और प्राकृत में तथा प्रान्तीय भाषाओं में ग्रन्थों का निर्माण होने लगा। इस प्रकार इन सत्तरह सौ वर्षों में मूल और अनुवाद, टीका और टिप्पणी, भाष्य और व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त कर्म-सिद्धान्त, न्याय-शास्त्र, द्रव्यानुयोग और कथा-साहित्य, काव्य-व्याकरण तथा नीति-साहित्य आदि-आदि तात्त्विक एवं लोक-भोग्य सुन्दर मौलिक ग्रन्थो का निर्माण हुआ, जिनसे न केवल जैन-साहित्य ही बल्कि भारतीय-साहित्य और विश्व-साहित्य भी गौरवान्वित हुआ है। यह साहित्य कलापूर्ण और अमर है।

भारतीय तर्क साहित्य का प्रारम्भ वीर-सम्वत् की पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् ही होता है, और महर्षि गौतम द्वारा रचित "न्याय-सूत्र" नामक कृति ही भारतीय तर्क-शास्त्र का आदि ग्रन्थ माना जाता है। इसका रचना-काल ईसा की प्रथम शताब्दी है। इसी समय से भारतीय-साहित्यिक प्रांगण में तर्क-युद्ध प्रारम्भ होता है, और आगे चलकर शनैः शनैः सभी मतानुयायी क्रमशः इसी मार्ग का अवलम्बन लेते हैं, यहीं से भारतीय दर्शनों की विचार-प्रणाली तर्क-प्रधान बन जाती है और उत्तरोत्तर इसी का विकास होता चला जाता है।

इस काल में श्रमण-सस्कृति ने अर्थात् जैन तथा बौद्ध-धर्मों ने अपनी व्यावहारिक वास्तविकता के कारण से जनता

को ही नहीं बल्कि, राजाओं और महाराजाओं के शासन-चक्र तक को अपना अनुयायी बना लेने की शक्ति प्राप्त कर ली थी, यही कारण था कि सम्राट् अशोक, महामहिम सम्राट् चन्द्रगुप्त और महाराजा खारवेल सरीखे असाधारण प्रतिभाशाली नरेश भी इस श्रमण-संस्कृति की छत्र छाया में आ चुके थे।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति के महान् प्रभाव को देखकर गौतम आदि वैदिक विद्वानों ने इस प्रभाव का निराकरण करने के लिए ही तर्क-शास्त्र की आधार-शिला प्रस्थापित की, और यहीं से भारतीय-साहित्य पर तर्क-प्रधान साहित्य का वर्चस्व स्थापित हो गया।

इन्हीं सयोगों में जैन विद्वानों और बौद्ध विद्वानों को भी तर्क-प्रधान साहित्य की रचना करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। बौद्ध-तार्किकों में सर्व प्रथम और प्रधान आचार्य नागार्जुन हुए, इनका काल ईसा की दूसरी शताब्दी है, ये महान् प्रतिभाशाली और प्रचण्ड तार्किक थे। इन्होंने 'माध्यमिक-कारिका' नामक तर्क का प्रौढ़ और गम्भीर ग्रन्थ बनाया, तथा बौद्ध-साहित्य का मूल आधार 'शून्यवाद' निर्धारित किया। शून्यवाद के आधार पर वैदिक मान्यताओ का और उनकी तर्कों का प्रबल खण्डन किया।

इनके बाद दिङ्नागादि पश्चाद्वर्ती बौद्ध तार्किकों ने इस विषय को और भी आगे बढ़ाया और इस प्रकार इस तर्क-शास्त्रीय युद्ध की गम्भीर नींव डाल कर अपने प्रतिपक्षियों को

चिरकाल तक विवश किया, तथा साथ ही भारतीय-तर्क-शास्त्र की भव्य इमारत का कलापूर्ण निर्माण किया।

ऐसी परिस्थिति में जैन-विद्वानों को भी जैन-दर्शन की रक्षा के लिए तर्क-प्रधान साहित्य की रचना की ओर झुकना पड़ा। इन्होंने देखा कि अब केवल 'आगमों' पर निर्भर रहने से ही कार्य नहीं चलेगा, अतएव तर्क-प्रधान जैन-साहित्य की रचना करने के लिए इन्होंने 'स्याद्वाद' सिद्धान्त का आश्रय लिया। इस प्रकार 'स्याद्वाद' सिद्धान्त के विकसित होने तथा पल्लवित होने का यह मूल-भूत कारण समझना चाहिए। स्याद्वाद की आधार-शिला पर खड़े होने वाले जैन न्याय-साहित्य का प्रारम्भ विक्रम की चौथी शताब्दी के पश्चात् ही होता है। श्वेताम्बर जैन न्याय-साहित्य के आदि-प्रणेता आचार्य सिद्धसेन दिवाकर हैं और दिगम्बर जैन न्याय-साहित्य के आदि आचार्य स्वामी समन्तभद्र हैं। ये दोनो ही आचार्य जैन धर्म और जैन-साहित्य के महान् प्रभावक महात्मा और उच्च कोटि के गम्भीर विद्वान् आचार्य हो गये हैं। इनके साहित्य का और रचना-शैली का जैन-साहित्य पर एवं पश्चात्वर्ती साहित्यकार आचार्यों पर महान् एवं अमिट प्रभाव पड़ा है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर रचित 'न्यायावतार' ही श्वेताम्बर-न्याय-साहित्य का आदि ग्रन्थ और मूल आधार रूप है। तथापि जैन न्याय का मूल बीज विक्रम की प्रथम शताब्दी में होने वाले, सस्कृत जैन साहित्य के सर्व प्रथम लेखक, आचार्य उमास्वातिवाचक द्वारा रचित-ग्रन्थराज 'तत्त्वार्थ-सूत्र' के प्रथम अध्याय के छट्ठे सूत्र 'प्रमाणनयैरधिगमः' में सन्निहित है।

प्रमाण और नय का सम्मिलित रूप ही अथवा समन्वय ही स्याद्वाद है। इस प्रकार से स्याद्वाद की उत्पत्ति और विकास तथा सार्थकता प्रमाण एवं नय तत्त्वों पर ही आधारित है। संपूर्ण जैन न्याय साहित्य की मीमांसा की जाय तो पता चलेगा कि 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र के भाष्य और व्याख्या के रूप में ही सम्पूर्ण जैन न्याय-साहित्य का उदय और विकास हुआ है। इस प्रकार प्रमाण और नय ही जैन-साहित्य का हृदय-स्थान है अथवा प्राण-प्रतिष्ठा रूप है।

विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से लगाकर सत्तरहवीं शताब्दी तक जितने भी श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर जैन तार्किक विद्वान् एव जैन नैयायिक आचार्य हुए हैं, उन सभी ने प्रमाण-नय पर आधारित स्याद्वाद सिद्धान्त को ही अपने सिद्धान्तों का पोषक और पर-सिद्धान्तों का निषेधक हथियार बनाया है।

स्याद्वाद रूपी कवच पहिन कर ही इन जैन तार्किकों ने भारतीय साहित्य के काव्यमय और ज्ञानपूर्ण प्रांगण में तथा घनघोर संघर्षमय वाद-विवाद पूर्ण रण-स्थली में अपना सफल और विजयपूर्ण भाग सम्पादित किया है। बौद्ध और वैदिक तार्किक विद्वानों द्वारा जैन-धर्म पर एवं जैन-दर्शन पर किये जाने वाले तार्किक आक्रमणों का अर्थात् प्रबल और प्रचण्ड तर्कों का स्याद्वाद का आश्रय लेकर ही सबल और समुचित उत्तर दिया है। इस प्रकार केवल एक 'स्याद्वाद' सिद्धान्त के आधार से ही जैन-दर्शन के सिद्धान्त अकाट्य और अमर तथा यशस्वी प्रमाणित हुए हैं। अद्वैतवाद के महान् समर्थ और दिग्गज आचार्य स्वामी शंकराचार्य के प्रचण्ड प्रचार और प्रबल शास्त्रार्थ के कारण बौद्ध

दर्शन सरीखा महान् दर्शन भारत से निर्वासित हो गया, और लंका, ब्रह्मा, चीन, जापान और तिब्बत आदि देशों में ही जाकर विशेष रूप से पल्लवित हुआ, जब कि जैन-दर्शन प्रबलतम साहित्यिक और तार्किक आक्रमणों के सामने भी टिका रहा, इसका कारण केवल स्याद्वाद सिद्धान्त ही है। इस प्रकार प्रत्येक जैन-सैद्धान्तिक विवेचना में स्याद्वाद ही मूल-आधार रहा है।

मध्य-युग में भारतीय-वसुन्धरा पर होने वाले राजनैतिक तूफानों में और विभिन्न दर्शनों की साहित्यिक आंधियों में भी जैन दर्शन का हिमालय के समान अडोल और अचल बने रहना केवल इस प्रमाण-नय-रूप स्याद्वाद सिद्धान्त का ही प्रताप है। विश्व की सभ्यता, संस्कृति और शान्ति के विकास के लिए जैन दर्शन और जैन तर्क-शास्त्र की 'स्याद्वाद' के रूप में एक महान् निधि रूप देन है।

उपसंहार

इस प्रकार सम्पूर्ण जैन न्याय-ग्रन्थों मे षड् दर्शनों की लगभग सभी मान्यताओं का और सिद्धान्तों का प्रमाण नय रूप स्याद्वाद की कसौटी पर ही विश्लेषण किया गया है। और अन्त में इसी बात पर बल दिया गया है कि प्रमाण और नय की अपेक्षा से ही सभी सिद्धान्त सत्य हो सकते हैं, और इनकी निर-पेक्षा करने पर वे असत्य रूप हो जायँगे।

भारतीय साहित्य-क्षेत्र में ज्यों-ज्यों दार्शनिक संघर्ष बढ़ता गया, त्यों-त्यों जैन-न्याय-ग्रन्थो में भी विषय-विवेचन में गम्भीरता

आती गई, तर्कों का जाल विस्तृत होता गया शब्दाडम्बर भी बढ़ता गया, भाषा-सौष्ठव और पद-लालित्य की भी वृद्धि होती गई। अर्थ-गांभीर्य भी विषय स्फुटता एवं विषय-प्रौढ़ता के साथ साथ विकास को प्राप्त होता गया। अनेक स्थलों पर लम्बे लम्बे समास युक्त वाक्यों की रचना से भाषा की दुरूहता भी बढ़ती गई। कहीं-कहीं प्रासाद-गुण युक्त भाषा का निर्मल स्रोत भी कलकल-नाद से प्रवाहमय हो चला। यत्र तत्र सुन्दर और प्रांजल भाषाबद्ध गद्य-प्रवाह में भावपूर्ण पद्यों का समावेश किया जाकर विषय की रोचकता दुगुनी हो चली। इस प्रकार प्रमाण-नय रूप न्याय-साहित्य को सर्वाङ्गीण सुन्दर और परिपूर्ण करने के लिये प्रत्येक जैन न्यायविद् ने हार्दिक और महान् परिश्रम साध्य प्रयास किया है और इस तरह से वे अपने पुनीत कृत-संकल्प में पूरी तरह से और पूरे यश के साथ सफल मनोरथ हुए हैं।

यही कारण है कि जैन न्यायाचार्यों की दिगन्तव्यापिनी सौम्य और उज्ज्वल कीर्त्ति का सुमधुर प्रकाश सम्पूर्ण विश्व के दार्शनिक क्षेत्रों में मूर्त्तिमान् होकर पूर्ण प्रतिभा के साथ पूरी तरह से प्रकाशित हो रहा है। इन आदरणीय साहित्यकारों की सार्वदेशिक प्रतिभा से समुत्पन्न, और गुण-गरिमा से ओत-प्रोत उज्ज्वल कृतियों को देख कर अत्यन्त नम्रता के साथ किन्तु निःसंकोच पूर्वक मैं कह सकता हूँ कि इनकी असाधारण और अमूल्य तथा अमर कृतियों ने जैन-साहित्य की ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की सौभाग्यश्री को अलंकृत किया है और वे अब भी कर रही हैं।

इस प्रकार प्रमाण-नय रूप माता-पिता से समुत्पन्न स्याद्वाद रूप वरद पुत्र ने विश्व साहित्य का असाधारण और महान् हित सम्पादन किया है।

अन्त में मगलमय, देवाधिदेव, वीतराग प्रभु श्री जिनेन्द्र-देव से यही निष्कामनामय, पुनीत प्रार्थना है कि मानव-जाति में विमल चारित्र के साथ-साथ प्रमाण-नय रूप स्याद्वाद प्रधान विचार-धारा के प्रति अनुराग प्राप्त हो और शीतल एव प्रशस्त शान्ति का सुन्दर संयोग हो। इति शिवमस्तु।

संघवी-कुटीर
छोटीसादड़ी
(राजस्थान)
ता० २१-७-५३

विनीत—
रतनलाल संघवी
(न्यायतीर्थ-विशारद)

॥ श्री ॥

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
३	३	वात	बात
४	१४	खरीदने लिए	खरीदने के लिए
४	२१	परिपूर्ण	परिपूर्ण की
५	२१	वातचित	बातचित
५	२३	गणस्थान वाले के	गुणस्थान वाले
६	१०	वर्तमान	वर्त्तमान
७	२१	खह	ये
१०	२०	करती	करता
१२	७	है	हैं
१३	६	"इन दृशों का एक आकार बनावे"	

इसके आगे इतना और जोड़िए:—"अथवा इनके आधार से मिश्रित आकार बनावे।"

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
२२	५	तीसरा	तीसरी
२६	४	(करोड़ करोड़)	(करोड़ × करोड़)
२९	१३	संबंधि	संबंधी
३०	६	(४५-१६)	(१५-१६)

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
३१	१३	(१८ से २३)	(१८ से २२)
३१	२१	कर्तत्व	कर्त्तृत्व
३३	१०	मार्ग मे	मार्ग में
३४	१६	हो	है
३४	२१	रहित	सहित
३५	१२	आदान	उपादान
३८	१७	स्पर्शन	स्पर्शना
३८	२४	दीन्द्रिय	द्वीन्द्रिय
३६	१२	का	की
४१	४	पाँच २	पाँच २ भेद
४१	(यंत्र ६)	भाव इन्द्रिय	मनो भाव इंद्रिय
४३	१६	भेद	प्रभेद
४४	६	हैं	हो
४५	८	उपर	ऊपर
४५	८	अभेदों	अपभेदों
४६	७	पर्याय में	पर्यायें
४८	११	अप्रासगिक	अप्रासंगिक
४६	२०	उदाहरण	उदाहरण के
५१	१३	श्रत	श्रुत
५१	१८	वर्तमान	वर्त्तमान
५४	१६	श्रुत ज्ञान	श्रुत ज्ञान की
५६	२	उपर	ऊपर
६२	१६	नारक देवों का और	नारक और देवों का
६३	२५	उत्पन्न जाने पर	चले जाने पर
६४	१०	ही	भी

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
६४	२१	समावि	समाविष्ट
६५	२०	विभग ज्ञान	विभंग ज्ञान
७०	१	०७	७०
७०	२२	सेसव	सेसवं
७२	४	स्वाभाव	स्वभाव
७२	६	गुणेण	गुणेणं
७७	१५	निकालने का	निकालने की
७८	६	"सत् रूप वस्तु उपमा"	"सत् रूप वस्तु के लिए असत् रूप उपमा"
८२	१५	उत्पात	उत्पत्ति
८३	२३	द्रव्य का	द्रव्य में
८४	६	है	हैं
९२	१४	विवधताओं	विविधताओ
९४	२०	धर्मों का	धर्मों की
९५	११	सतत्	सतत
९५	१२	साधन	साधना
९७	१०	परपात्मा	परमात्मा
९७	१३	सम्यत्त्वी	सम्यक्त्वी
९८	४	परिवारिक	पारिवारिक
९९	१८	मुमुक्ष	मुमुक्षु
१००	५	दर्शनवरणीय	दर्शनावरणीय
१००	५	धनघाती	घनघाती
१००	१९	रहता है	करता है
१०२	१५, १७, १८, १९, २२	आर्तध्यान	आर्त्तध्यान
१०२	१६	अनिष्ठ	अनिष्ट

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
१०३	२, ३, ५,	आर्तध्यान	आर्त्त ध्यान
१०४	६	चिन्तवन	चितवन
१०६	३	तुमने	तूँने
१०६	२६	धन रज्जु	घनरज्जु
१०७	३	नहीं की	नहीं की;
१०७	६	लोग के	लोक के
१०६	१५	रूचि	रुचि
१०६	१६	गुरु	गुरू
११०	६	पच्छना	पृच्छना
११०	२१	अशरणानुपोक्ष	अशरणानुप्रेक्षा
११२	१९	पलि	पलि
११३	११	दृष्टिकोण का साधन	दृष्टिकोण की साधना
११३	१३	अभेद	प्रभेद
११३	२३	शुभ	अशुभ
११४	२४	पूर्व घर	पूर्वधर
११५	६	श्रत-ज्ञान	श्रुत ज्ञान
११५	१२	अनुच्न्तिन	अनुचिन्तन
११६	११	बिखरते हुए	बिखरे हुए
११७	५, ८	सम्य रूप	सम्यक् रूप
११७	२५	लोगों का	योगों का
११७	२५	काम-योग	काय-योग
११८	११	सूक्ष्म योग का आश्रय लेकर (इससे आगे इतना और जोड़ियेगा:—)	

शरीर का स्थूल योग सूक्ष्म बनाया जाता है। तत्पश्चात् शरीर के सूक्ष्म योग का आश्रय लेकर।

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
१२०		शुक्ल ध्यान के चार अवलम्बन में से तीसरे की व्याख्या छपने से छूट गई है; अतः उसे इस प्रकार समझना:—	

(इ) कपटमय वृत्तियों का उच्छेद कर देना मर्मान्तक अथवा पीड़ाकारी व्यंगात्मक वाणी नहीं बोलना; संशयात्मक द्विअर्थक भाषा का उच्चारण नहीं करना, मन-वचन और काया सम्बन्धी प्रवृत्तियों में सहजस्वाभाविक एवं सादगीपूर्ण सरल आचरण रखना; प्रतिशोध जैसी वृत्तियों का सर्वथा क्षय हो जाना एवं कदापि वक्रता नहीं आने देना; यही अज्जव-आर्जव-सरलता धर्म है।

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
१२०	२१	कदापि भी	कदापि
१२१	२	(इ)	(ई)
१२१	६	पांचो	पांचों
१२२	१६	रह	रख
१२३	८	मे	में
१२३	१२	चंपलता	चंचलता
१२५	३	उपयोगों	अनुयोगों
१२७	१	ध्यान चार	अनुयोग चार
१३२	१४	स्नान आदि	औषधि आदि
१३३	६	परिष्ठापनिका	पारिष्ठापनिका
१३५	१८	परन्तु वह फिर	परन्तु फिर
१३६	८	करने हुए	करते हुए
१३६	१४	संगंफन	संगोफन
१३६	१७	संयम की	संयम के
१३६	१८	नियम का	नियम के

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
१३६	२०	हो	हों
१३६	१	सप्त भगीवाद	सप्त भंगीवाद
१३६	१३	है	हैं
१४०	३	तीनों के साथ	तीनों का एक साथ
१४१	२२	मौजूद से होती	मौजूद होती
१४२	१५	च्चाहिये	चाहिये
१४३	३	है	है
१४३	११	(६)	(५)
१४४	३	पुद्गल को	पुद्गल के
१४४	६	हों	हो
१४४	१०	है	हैं
१४५	१५	गघ	गध
१४७	५	(१४)	(१३)
१४७	१६	इन्द्रियाँ	इन्द्रियों
१५१	५	पदार्थों का	पदार्थों को
१५१	६	पदार्थों का	पदार्थों को
१५१	७	पर्यायो का	पर्यायों को
१५१	८	(६)	(१०)
१५१	१३	हृदय से एवं मन से	हृदय मे एवं मन में
१५१	१६	परिणामों से	परिणामों में
१५३	११	(१०)	(११)

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
१५४	२	करती हैं	करती है
१५४	७	है	हैं
१५५	१२	चेतन शक्ति	चेतना शक्ति
१५६	५	(२)	(३)
१५६	२३	विग्रह गति को	विग्रह गति की
१६०	११	अनाहरक	अनाहारक

नोट:—उपरोक्त शुद्धि-पत्र में पंक्ति संख्या की गणना में पुस्तक की पृष्ठ संख्या से पंक्ति का प्रारंभ समझना चाहिए।